प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
मा० जैनग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगांव—बम्बई।

मुद्रक—
चिंतामण सखाराम देवळे,
मुंबईवैभव प्रेस, सर्व्हंट्स् ऑफ इंडिया
सोसायटीज् होम, सँढर्स्ट रोड, गिरगांव,
बंबई।

निवेदन।

जैनहितैषीमें लगभग चार वर्षसे एक 'ग्रन्थ-परीक्षा' शीर्षक लेखमाला निकल रही है। इसके लेखक देवबन्द निवासी श्रीयुत बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं। आपके इन लेखोंने जैनसमाजको एक नवीन युगका सन्देशा सुनाया है, और अन्धश्रद्धाके अँधेरेमें निद्रित पड़े हुए लोगोंको चकचौंधा देनेवाले प्रकाशसे जाग्रत कर दिया है। यद्यपि बाह्यदृष्टिसे अभी तक इन लेखोंका कोई स्थूलप्रभाव व्यक्त नहीं हुआ है तो भी विद्वानोंके अन्तरंगमें एक शब्दहीन हलचल बराबर हो रही है जो समय पर कोई अच्छा परिणाम लाये बिना नहीं रहेगी।

जैनधर्मके उपासक इस बातको भूल रहे थे कि जहाँ हमारे धर्म या सम्प्रदायमें एक ओर उच्चश्रेणीके निःस्वार्थ और प्रतिभाशाली ग्रन्थकर्त्ता उत्पन्न हुए हैं वहाँ दूसरी ओर नीचे दर्जेके स्वार्थी और तस्कर लेखक भी हुए हैं, अथवा हो सकते हैं, जो अपने खोटे सिक्कोंको महापुरुषोंके नामकी मुद्रासे अंकित करके खरे दामोंमें चलाया करते हैं। इस भूलके कारण ही आज हमारे यहाँ भगवान् कुन्दकुन्द और सोमसेन, समन्तभद्र और जिनसेन (भट्टारक), तथा पूज्यपाद और श्रुतसागर एक ही आसन पर बिठाकर पूजे जाते हैं। लोगोंकी सदसद्विवेकबुद्धिका लोप यहाँ तक हो गया है कि वे संस्कृत या प्राकृतमें लिखे हुए चाहे जैसे वचनोंको आप्त भगवानके वचनोंसे जरा भी कम नहीं समझते! ग्रन्थपरीक्षाके लेखोंसे हमें आशा है कि भगवान् महावीरके अनुयायी अपनी इस भूलको समझ जायँगे और वे आप अपनेको और अपनी सन्तानको धूर्त ग्रन्थकारोंकी चुंगलमें न फँसने देंगे।

जिस समय ये लेख निकले थे, हमारी इच्छा उसी समय हुई थी कि इन्हें स्वतंत्र पुस्तकाकार भी छपवा लिया जाय, जिससे इस विषयकी ओर लोगोंका ध्यान कुछ विशेषतासे आकर्षित हो; परंतु यह एक बिलकुल ही नये ढंगकी चर्चा थी, इस लिए हमने उचित समझा कि कुछ समय तक इस सम्बन्धमें विद्वानोंकी सम्मतिकी प्रतीक्षा की जाय। प्रतीक्षा की गई और खूब की गई। लेखमालाके प्रथम तीन लेखोंको प्रकाशित हुए तीन वर्षसे भी अधिक समय बीत गया; परंतु कहींसे कुछ भी आहट न सुन पड़ी; विद्वन्मण्डलीकी ओरसे अब तक इनके प्रतिवादमें कोई एक

भी लेख नहीं निकला; बल्कि बहुतसे विद्वानोंने हमारे तथा लेखक महाशयके समक्ष इस बातको स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया कि आपकी समालोचनायें यथार्थ हैं। जैनमित्रके सम्पादक ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने पहले दो लेखोंको जैनमित्रमें उद्धृत किया और उनके नीचे अपनी अनुमोदनसूचक सम्मति प्रकट की। इसी प्रकार दक्षिण प्रान्तके प्रसिद्ध विद्वान् और धनी सेठ हीराचन्द नेमीचन्दजीने लेखमालाके प्रायः सभी लेखोंको मराठीमें प्रकाशित कराके मानों यह प्रकट कर दिया कि इस प्रकारके लेखोंका प्रचार जितना अधिक हो सके उतना ही अच्छा है।

यह सब देखकर अब हम ग्रन्थपरीक्षाके समस्त लेखोंको पृथक् पुस्तकाकार छपानेके लिए तत्पर हुए हैं। यह लेखमाला कई भागोंमें प्रकाशित होगी; जिनमेंसे पहले दो भाग छपकर तैयार हैं। पहले भागमें उमास्वामिश्रावकाचार, कुन्दकुन्द-श्रावकाचार और जिनसेनत्रिवर्णाचार इन तीन ग्रन्थोंकी परीक्षाके तीन लेख हैं और दूसरे भागमें भद्रबाहुसंहिताकी परीक्षाका विस्तृत लेख है। अब इनके बाद जो लेख निकले हैं और निकलेंगे वे तीसरे भागमें संग्रह करके छपाये जायँगे।

प्रथम भागका संशोधन स्वयं लेखक महाशयके द्वारा कराया गया है, इससे पहले जो कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं वे सब इस आवृत्तिमें दूर की गई हैं। साथ ही जहाँ तहाँ आवश्यकतानुसार कुछ थोड़ा बहुत परिवर्तन भी किया गया है।

समाजमें केवल निष्पक्ष और स्वतंत्र विचारोंका प्रचार करनेके उद्देश्यसे यह लेखमाला प्रकाशित की जा रही है और इसी कारण इसका मूल्य बहुत कम—केवल लागतके बराबर—रक्खा गया है। आशा है कि सत्यप्रेमी पाठक इसका प्रचार करनेमें हमारा हाथ बँटावेंगे और प्रत्येक विचारशीलके हाथों तक यह किसी न किसी तरह पहुँच जाय, इसका उद्योग करेंगे।

जैनसमाजके समस्त पण्डित महाशयोंसे प्रार्थना है कि वे इन लेखोंको ध्यानपूर्वक पढ़ें और इनके विषयमें अपनी अपनी स्वतन्त्र सम्मति हमारे पास भेजनेकी कृपा करें। इसके सिवाय निष्पक्ष विद्वानोंका यह भी कर्तव्य होना चाहिए कि वे व्याख्यानों तथा समाचारपत्रों आदिके द्वारा लोगोंको ऐसे ग्रन्थोंसे सावधान रहनेके लिए सचेत कर दें।

द्वितीय भाद्र कृष्ण ७ }
सं० १९७४ वि०। }

प्रार्थी:—
नाथूराम प्रेमी।

शुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१५	॥ १० ॥	॥ १०५ ॥
८	१	खंडको	दूसरे खंडको
११	६	चाहिए,	चाहिए थी,
१२	१६	लिये हुए	दिये हुए
,,	२२	॥ १५ ॥	॥ १८ ॥
१३	२	॥ १६ ॥	॥ १९ ॥
१५	९–१३	कि "यह...गया है।"	कि, यह...गया है।
१९	२	॥ ७–१६ ॥	॥ ७–१९ ॥
२८	२२	उस	ग्रंथ उस
३०	१६	॥ १८ ॥	॥ १९ ॥
४१	९	आगे	आज इस लेखमें
६०	१७	और उसमें कई	और कई
६२	७	सद्यः	मिश्रं
६७	१९	॥ ४–७८२ ॥	॥ ४–७८ ॥
७०	३	१०५	१०८
,,	२२	धर्माणाः	धर्माराः
७२	१०	ब्रह्मचारसम्बंधी अध्यायोंके	ब्रह्मचारसम्बंधी जो दूसरे पद्य इस अध्यायमें पाये जाते हैं वे सब भी दूसरे खंडके ब्रह्मचार संबंधी अध्यायोंके
७४	१२	देनेसे लोप	देनेसे धर्मका लोप
९०	६	॥ ८६ ॥	॥ ९६ ॥
९४	१०	कर्मप्रवृत्तिका	कर्मप्रकृतिका
१०९	१३	अनाजके ढेरों या हाथियों-के स्तंभों, स्त्रियोंके निवास-स्थानों,	गजशालाओं,
,,	२६	॥ २१५ ॥	॥ २१९ ॥
११०	५	स्तम्बेराणां च	स्तम्बेरमाणां
१११	२०	भूक्षापको (?)	भूदृज्ञापको

पृष्ठ ७७ के फुटनोटमें 'यथाः–' के बाद "हामाकारौ च..." इत्यादि पद्य नं० २१५ और बना लेना चाहिये जो गलतीसे पृष्ठ ७८ पर छपगया है। और वहाँसे उसे निकाल देना चाहिये।

सूचना ।

जैनहितैषीमें भद्रबाहुसंहिताकी समालोचना प्रकाशित हो चुकनेके बाद मालूम हुआ कि इन्दौरकी हाईकार्टके जज श्रीयुत बाबू जुगमंदर-लालजी जैनी एम. ए. ने जैन ला (Jain Law) नामकी एक पुस्तक अँगरेजीमें लिखी है और उसका 'दारो मदार' इसी भद्रबाहुसंहिता पर है जो इस समालोचनाके द्वारा अच्छी तरह जाली सिद्ध कर दी गई है। इसी का 'दाय भाग' प्रकरण जैनीजीने अपनी उक्त पुस्तकमें अँगरेजी अनुवादसहित प्रकाशित किया है और उसे लगभग २३०० वर्षका पुराना समझा है। अवश्य ही पुस्तक लिखते समय जज साहबको इसके जाली होनेका खयाल न होगा, नहीं तो वे इसे कभी प्रमाणभूत नहीं मानते; पर अब आशा है कि वे अपने पूर्व विचारोंको शीघ्र ही बदल देंगे और तदनुसार अपनी पुस्तकको अन्य किसी प्रामाणिक ग्रन्थके आधारसे ठीक कर लेंगे।

अन्यान्य भाइयोंको भी चाहिए कि यदि किसी दायभागके झगड़ेमें यह जाली संहिता पेश की जाय तो वे इसे कभी प्रामाणिक न मानें और इसकी अप्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिए इस परीक्षालेखको उपस्थित करनेकी कृपा करें।

प्रकाशक।

भद्रबाहु-संहिता ।

[ग्रन्थ-परीक्षा ।]

जैनसमाजमें, भद्रबाहुस्वामी एक बहुत प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं। आप पाँचवें श्रुतकेवली थे। श्रुतकेवली उन्हें कहते हैं जो संपूर्ण द्वादशांग श्रुतके पारगामी हों—उसके अक्षर अक्षरका जिन्हें यथार्थ ज्ञान हो। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि तीर्थंकर भगवानकी दिव्यध्वनि द्वारा जिस ज्ञान-विज्ञानका उदय होता है उसके अविकल ज्ञाताओंको श्रुतकेवली कहते हैं। आगममें संपूर्ण पदार्थोंके जाननेमें केवली और श्रुतकेवली दोनों ही समान रूपसे निर्दिष्ट हैं। भेद है सिर्फ प्रत्यक्ष-परोक्षका या साक्षात्-असाक्षात्का। केवली अपने केवलज्ञान द्वारा संपूर्ण पदार्थोंको प्रत्यक्ष रूपसे जानते हैं और श्रुतकेवली अपने स्याद्वादालंकृत श्रुतज्ञान द्वारा उन्हें परोक्ष रूपसे अनुभव करते हैं। जैसा कि स्वामि समन्तभद्रके इस वाक्यसे प्रगट है:—

> स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
> भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १० ॥

—आप्तमीमांसा ।

जैनियोंको, भद्रबाहुकी योग्यता, महत्ता, और सर्वमान्यता आदिके विषयमें इससे अधिक परिचय देनेकी जरूरत नहीं है। वे भद्रबाहुके द्वारा संपूर्ण तत्त्वोंकी प्ररूपणाका उसी प्रकार अविकल रूपसे होते रहना मानते हैं जिस प्रकार कि वह वीर भगवानकी दिव्यध्वनि द्वारा होती रही थी और इस दृष्टिसे भद्रबाहु वीर भगवानके तुल्य ही माने और पूजे जाते हैं। इससे पाठक समझ सकते हैं कि जैनसमाजमें भद्रबाहुका आसन कितना अधिक ऊँचा है। ऐसे महान् विद्वान् और प्रतिभाशाली आचार्यका बनाया हुआ यदि कोई ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो वह निःसन्देह बड़े ही आदर और सत्कारकी दृष्टिसे देखे जाने योग्य है और उसे जैनियोंका बहुत बड़ा सौभाग्य समझना चाहिए। अस्तु; आज इस लेख द्वारा जिस ग्रंथकी परीक्षाका प्रारंभ किया जाता है उनके नामके साथ ' भद्रबाहु 'का पवित्र नाम लगा हुआ है। कहा जाता है कि यह ग्रंथ भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ है।

ग्रन्थ-प्राप्ति।

जिस समय सबसे पहले मुझे इस ग्रंथके शुभ नामका परिचय मिला और जिस समय (सन् १९०५ में) पंडित गोपालदासजीने इसके 'दाय-भाग ' प्रकरणको अपने ' जैनमित्र ' पत्रमें प्रकाशित किया उस समय मुझे इस ग्रंथके देखनेकी बहुत उत्कंठा हुई। परन्तु ग्रंथ न मिलनेके कारण मेरी वह इच्छा उस समय पूरी न हो सकी। साथ ही, उस वक्त मुझे यह भी मालूम हुआ कि अभीतक यह ग्रंथ किसी भंडारसे पूरा नहीं मिला। महासभाके सरस्वतीभंडारमें भी इसकी अधूरी ही प्रति है। इसके बाद चार पाँच वर्ष हुए जब ऐलक पन्नालालजीके द्वारा झालरापाटनके भंडारसे इस ग्रंथकी यह प्रति निकाली गई और ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद-जीके द्वारा, जैनमित्रमें, इस पूरे ग्रंथके मिल जानकी घोषणा की गई और इसके अध्यायोंकी विषय-सूचीका विवरण देते हुए सर्व साधारण पर

ग्रंथका महत्त्व प्रगट किया गया, तब मेरी वह ग्रंथावलोकनकी इच्छा और भी वलवती हो उठी और मैंने निश्चय किया कि किसी न किसी प्रकार इस ग्रंथको एकवार परीक्षा-दृष्टिसे जरूर देखना चाहिए। झालरापाटनकी उक्त प्रतिको, उसपरसे कई प्रतियाँ करा कर ग्रंथका प्रचार करनेके लिए, ऐलक पन्नालालजी अपने साथ ले गये थे। इस लिए उक्त ग्रंथका सहसा मिलना दुर्लभ हो गया। कुछ समयके वाद जब उन प्रतियोंमेंसे एक प्रति मोरेनामें पं० गोपालदासजीके पास पहुँच गई तब, समाचार मिलते ही, मैंने पंडितजीसे उसके भेजनेके लिए निवेदन किया। उत्तर मिला कि आधा ग्रंथ पं० पन्नालालजी वम्बई ले गये है और आधा यहाँपर देखा जा रहा है। अन्तको, बम्बई, और मोरेना दोनों ही स्थानोंसे ग्रंथकी प्राप्ति नहीं हो सकी। मेरी उस प्रवल इच्छाकी पूर्तिमें इस प्रकारकी वाधा पड़ती देखकर वावा भागीरथजी वर्णीके हृदयपर वहुत चोट लगी और उन्होंने अजमेर जाकर सेठ नेमिचंदजी सोनीके लेखक द्वारा, जो उस समय भद्र-बाहुसंहिताकी प्रतियाँ उतारनेका ही काम कर रहा था, एक प्रति अपने लिए करानेका प्रबंध कर दिया। वहुत दिनोंके इन्तजार और लिखा पढ़ीके वाद वह प्रति देहलीमें वावाजीके नाम वी. पी. द्वारा आई, जिसको लाला जग्गीमलजीने छुड़ाकर पहाड़ीके मंदिरमें विराजमान कर दिया और आखिर वहाँसे वह प्रति मुझको मिल गई। देखनेसे मालूम हुआ कि यह प्रति कुछ अधूरी है। तब उसके कमती भागकी पूर्ति तथा मिलानके लिए दूसरी पूरी प्रतिके मँगानेकी जरूरत पैदा हुई, जिसके लिए अनेक स्थानोंसे पत्रव्यवहार किया गया। इस पर सेठ हीराचंद नेमिचंदजी शोलापुरने, पत्र पाते ही, अपने यहाँकी प्रति भेज दी, जो कि इस ग्रंथका पूर्वखंड मात्र है और जिससे मिलानका काम लिया गया। परन्तु इससे कमती भागकी पूर्ति नहीं हो सकी। अतः झालरापाटनसे इस ग्रंथकी पूरी प्रति प्राप्त करनेका फिरसे प्रयत्न किया गया। अबकी वारका प्रयत्न

सफल हुआ। गत जुलाई मासके अन्तमें श्रीमान् सेठ विनोदीराम बालचंदजीके फर्मके मालिक श्रीयुत सेठ लालचन्दजी सेठीने इस ग्रंथकी वह मूल प्रति ही मेरे पास भेज देनेकी कृपा की जिस परसे अनेक प्रतियाँ होकर हालमें इस संहिताका प्रचार होना प्रारंभ हुआ है और इस लिए सेठ साहबकी इस कृपा और उदारताके लिए उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय वह थोड़ा है। जिन जिन महानुभावोंने मेरी इस ग्रंथावलोकनकी इच्छाको पूरा करनेके लिए ग्रंथ भेजने-भिजवाने आदि द्वारा मेरी सहायता की है उन सबका मैं हृदयसे आभार मानता हूँ। इस विषयमें श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीका नाम खास तौरसे उल्लेख योग्य है और वे मेरे विशेष धन्यवादके पात्र हैं; जिनके खास उद्योगसे झालरा पाटनकी मूल प्रति उपलब्ध हुई, जिन्होंने ग्रंथपरीक्षाकी सहायतार्थ अनेक ग्रंथोंको खरीदकर भेजने तककी उदारता दिखलाई और जिनकी कोशिशसे एक अलब्ध ग्रंथकी दक्कन कालिज पूनाकी लायब्रेरीसे भी प्राप्ति हुई। इस प्रकार ग्रंथ-प्राप्तिका यह संक्षिप्त इतिहास देकर अब मैं प्रकृत विषयकी ओर झुकता हूँ:—

परीक्षाकी जरूरत।

भद्रबाहु श्रुतकेवलीका अस्तित्व-समय वीर निर्वाण संवत् १३३ से प्रारंभ होकर संवत् १६२ पर्यंत माना जाता है। अर्थात् विक्रम संवतसे ३०८ वर्ष पहले और ईसवी सनसे ३६५ वर्ष पहले तक भद्रबाहु मौजूद थे और इसलिए भद्रबाहुको समाधिस्थ हुए आज २२८१ वर्ष हो चुके हैं। इस समयसे २९ वर्ष पहलेके किसी समयमें (जो कि भद्रबाहुके श्रुतकेवली रहनेका समय कहा जाता है) भद्रबाहु श्रुतकेवली द्वारा इस ग्रंथकी रचना हुई है, ऐसा कुछ विद्वानोंका अनुमान और कथन है। ग्रंथमें, ग्रंथके बननेका कोई सन् संवत् नहीं दिया और न ग्रंथकर्ताकी कोई प्रशस्ति ही लगी हुई है। परंतु ग्रंथकी

प्रत्येक सन्धिमें, 'भद्रबाहु' ऐसा नाम जरूर लगा हुआ है; मंगलाचरणमें 'गोवर्धनं गुरुं नत्वा' इस पदके द्वारा गोवर्धन गुरुका, जो कि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके गुरु थे, नमस्कारपूर्वक स्मरण किया गया है; कई स्थानों पर 'मैं भद्रबाहु मुनि ऐसा कहता हूँ या कहूँगा' इस प्रकारका उल्लेख पाया जाता है; और एक स्थानपर "भद्रबाहुरुवाचेदं पंचमः श्रुतकेवली*" यह वाक्य भी दिया है। इसके सिवाय ग्रंथमें कहीं कहींपर किसी कथनके सम्बंधमें इस प्रकारकी सूचना भी की गई है कि वह कथन भद्रबाहु श्रुतकेवलीका या द्वादशांगके जाननेवाले भद्रबाहुका है। इन्हीं सब बातोंके कारण जैनसमाजके वर्तमान विद्वानोंका उपर्युक्त अनुमान और कथन जान पड़ता है। परन्तु सिर्फ इतने परसे ही इतना बड़ा भारी अनुमान कर लेना बहुत बड़े साहस और जोखमका काम है; खासकर ऐसी हालत और परस्थितिमें जब कि इस प्रकारके अनेक ग्रंथ जाली सिद्ध किये जा चुके हों। जाली ग्रंथ बनानेवालोंके लिए इस प्रकारका खेल कुछ भी मुश्किल नहीं होता और इसका दिग्दर्शन पहले तीन ग्रंथोंपर लिखे गये परीक्षालेखोंद्वारा भले प्रकार कराया जा चुका है+। भद्रबाहुको हुए आज २३ सौ वर्षका लम्बा चौड़ा समय बीत गया। इस अर्सेमें बहुतसे अच्छे अच्छे विद्वान् और माननीय आचार्य होगये; परन्तु उनमेंसे किसीकी भी कृतिमें इस ग्रंथका नामोल्लेख तक नहीं मिलता और न किसी प्राचीन शिलालेखमें ही इस ग्रंथका उल्लेख पाया जाता है। श्रुतकेवली जैसे आदर्श पुरुष द्वारा रचे हुए एक ऐसे ग्रंथका, जिसका अस्तित्व आजतक

---

* खंड २ अध्याय १ श्लोक १० का पूर्वार्ध।

\+ इससे पहले उमास्वामि-श्रावकाचार, कुन्द-कुन्दश्रावकाचार और जिनसेन-त्रिवर्णाचार ऐसे तीन ग्रंथोंकी परीक्षा की जा चुकी है, जिनके पाँच परीक्षालेख जैनहितैषीके १० वें भागमें प्रकाशित हुए हैं।

चला आता हो, बादको होनेवाले किसी भी माननीय प्राचीन आचार्यकी कृतिमें नामोल्लेख तक न होना संदेहसे खाली नहीं है। साथ ही, श्रवणबेलगोलके श्रीयुत पंडित दौर्बलि जिनदास शास्त्रीजीसे मालूम हुआ कि उधर दक्षिणदेशके भंडारोंमें भद्रबाहुसंहिताकी कोई प्रति नहीं है और न उधर पहलेसे इस ग्रंथका नाम ही सुना जाता है। जिस देशमें भद्रबाहुका अन्तिम जीवन व्यतीत हुआ हो, जिस देशमें उनके शिष्यों और प्रशिष्योंका बहुत बड़ा संघ लगभग १२ वर्षतक रहा हो, जहाँ उनके शिष्यसम्प्रदायमें अनेक दिग्गजविद्वानोंकी शाखा प्रशाखायें फैली हों और जहाँपर धवल, महाधवल आदि ग्रन्थोंको सुरक्षित रखनेवाले मौजूद हों, वहाँपर उनकी, अद्यावधिपर्यंत जीवित रहनेवाली, एक मात्रसंहिताका नामतक सुनाई न पड़े, यह कुछ कम आश्चर्यकी बात नहीं है। ऐसा होना कुछ अर्थ रखता है और वह उपेक्षा किये जानेके योग्य नहीं है। इन सब कारणोंसे यह बात बहुत आवश्यक जान पड़ती है कि इस ग्रंथ (भद्रबाहुसंहिता) की परीक्षा की जाय और ग्रंथके साहित्यकी जाँच द्वारा यह मालूम किया जाय कि यह ग्रंथ वास्तवमें कब बना है और इसे किसने बनाया है। इसी लिए आज पाठकोंका ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाता है।

ग्रन्थकी विलक्षणता।

जिस समय इस ग्रन्थको परीक्षा-दृष्टिसे अवलोकन करते हैं उस समय यह ग्रन्थ बड़ा ही विलक्षण मालूम होता है। इस ग्रंथमें तीन खंड हैं—१ पूर्व, २ मध्यम, ३ उत्तर और श्लोकोंकी संख्या लगभग सात हजार है। परंतु ग्रंथके अन्तमें जो १८ श्लोकोंका 'अन्तिम वक्तव्य' दिया है उसमें ग्रन्थके पाँच खंड बतलाये हैं और श्लोकोंकी संख्या १२ हजार सूचित की है। यथा:—

> प्रथमो व्यवहाराख्यो ज्योतिराख्यो द्वितीयकः।
> तृतीयोपि निमित्ताख्यश्चतुर्थोपि शरीरजः ॥ १ ॥

पंचमोपि स्वराख्यश्च पंचखंडैरियं मता ।
द्वादशसहस्रंप्रमिता संहितेयं जिनोदिता ॥ २ ॥

अन्तिम वक्तव्य अन्तिम खंडके अन्तमें होना चाहिए था; परन्तु यहाँपर तीसरे खंडके अन्तमें दिया है। चौथे पाँचवें खंडोंका कुछ पता नहीं, और न उनके सम्बंधमें इस विषयका कोई शब्द ही लिखा है। किसी ग्रंथमें तीन खंडोंके होनेपर ही उनका पूर्व, मध्यम और उत्तर इस प्रकारका विभाग ठीक हो सकता है, पाँच खंडोंकी हालतमें नहीं। पाँच खंडोंके होनेपर दूसरे खंडको 'मध्यम' और तीसरेको 'उत्तरखंड' कहना ठीक नहीं बैठता। पहले और अन्तके खंडोंके बीचमें रहनेसे दूसरे खंडको यदि 'मध्यमखंड' कहा जाय तो इस दृष्टिसे तीसरे खंडको भी 'मध्यमखंड' कहना होगा, 'उत्तरखंड' नहीं। परन्तु यहाँपर पद्यमें भी तीसरे खंडको, उसके दस अध्यायोंकी सूची देते हुए, 'उत्तरखंड' ही लिखा है। यथा

ग्रहस्तुतिः प्रतिष्ठां च मूलमंत्रार्षिपुत्रिके ।
शास्तिचक्रे क्रियादीपे फलशान्ती दशोत्तरे ॥ ८ ॥

इसलिए खंडोंका यह विभाग समुचित प्रतीत नहीं होता। खंडोंके इस विभाग-सम्बंधमें एक बात और भी नोट किये जाने योग्य है और वह यह है कि इस ग्रंथमें पूर्व खंडकी संधि देनेके पश्चात्, दूसरे खंडका प्रारंभ करते हुए, "**अथ भद्रबाहु–संहितायां उत्तरखंडः प्रारभ्यते**" यह वाक्य दिया है और इसके द्वारा दूसरे खंडको 'उत्तरखंड' सूचित किया है; परन्तु खंडके अन्तमें उसे वही 'मध्यमखंड' लिखा है। हो सकता है कि ग्रंथकर्ताका ग्रंथमें पहले दो ही खंडोंके रखनेका विचार हो और इसी लिए दूसरा खंड शुरू करते हुए उसे 'उत्तरखंड' लिखा हो; परन्तु बादको दूसरा खंड लिखते हुए किसी समय वह विचार बदलकर तीसरे खंडकी जरूरत पैदा हुई हो और इस लिए अन्तमें

खंडको ' मध्यमखंड ' करार दिया हो और पहले जो उसके लिए ' उत्तरखंड ' पद लिखा गया था उसका सुधार करना स्मृतिपथसे निकल गया हो । कुछ भी हो, पर इससे ग्रंथका अव्यवस्थितपना प्रगट होता है । यह तो हुई खंडोंके साधारण विभागकी बात; अब उनके विषय-विभागकी अपेक्षा विशेष नामकरणको लीजिए । ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोक नं० १ में दूसरे खंडका नाम ' ज्योतिष-खंड ' और तीसरेका नाम ' निमित्तखंड ' * दिया है जिससे यह सूचित होता है कि ये दोनों विषय एक दूसरेसे भिन्न अलग अलग खंडोंमें रक्खे गये हैं । परंतु दोनों खंडोंके अध्यायोंका पाठ करनेसे ऐसा मालूम नहीं होता । तीसरे खंडमें सिर्फ ' ऋषिपुत्रिका ' और ' दीप ' नामके दो अध्याय ही ऐसे हैं जिनमें ' निमित्त ' का कथन है । बाकीके आठ अध्यायोंमें दूसरी ही बातोंका वर्णन है । इससे पाठक सोच सकते हैं कि इस खंडका नाम कहाँतक ' निमित्तखंड ' हो सकता है । रही दूसरे खंडकी बात । इसमें १ केवलकाल, २ वास्तुलक्षण, ३ दिव्येन्दु-संपदा, ४ चिह्न और ५ दिव्योषधि नामके पाँच अध्याय तो ऐसे हैं जिनका ज्योतिषसे प्रायः कुछ सम्बंध नहीं और ' उल्का ' आदि २६ अध्याय तथा शकुन (स्वरादि द्वारा शुभाशुभज्ञान), लक्षण और व्यंजन नामके कई अध्याय ऐसे हैं जो निमित्तसे सम्बंध रखते हैं और उस अष्टांग निमित्तमें दाखिल हैं जिसके नाम ' राजवार्तिक ' में इस प्रकार दिये हैं:—

अंतरिक्ष-भौमांग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यंजन-छिन्नानि अष्टौमहानिमित्तानि ।

इस खंडके शुरूके २६ अध्यायोंको उनकी संधियोंमें दिये हुए ' भद्रबाहुके निमित्ते ' इन शब्दों द्वारा निमित्ताध्याय सूचित भी किया है । शेषके अध्यायोंमें एक अध्याय (नं० ३०) का नाम ही 'निमित्त'

---

* तीसरे खंडके अन्तमें भी उसका नाम ' निमित्तखंड ' लिखा है ।

अध्याय है और उसके प्रतिज्ञा-वाक्यमें भी निमित्तकथनकी प्रतिज्ञा की गई है। यथा:—

> अथ वक्ष्यामि केषांचिन्निमित्तानां प्ररूपणं।
> कालज्ञानादिभेदेन यदुक्तं पूर्वसूरिभिः ॥ १ ॥

इस तरह पर इस खंडमें निमित्ताध्यायोंकी बहुलता है। यदि दो निमित्ताध्यायोंके होनेसे ही तीसरे खंडका नाम 'निमित्त' खंड रक्खा गया है तो इस खंडका नाम सबसे पहले 'निमित्तखंड' रखना चाहिए था; परन्तु ऐसा नहीं किया गया। इस लिए खंडोंका यह नामकरण भी समुचित प्रतीत नहीं होता। यहाँ पर पाठकोंको यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि इस खंडके शुरूमें निमित्तग्रंथके कथनके लिए ही प्रश्न किया गया है और उसीके कथनकी प्रतिज्ञा भी की गई है। यथा:—

> सुखग्राह्यं लघुग्रंथं स्पष्टं शिष्यहितावहम्।
> सर्वज्ञभाषितं तथ्यं निमित्तं तु ब्रवीहि नः ॥ २-१-१४॥
> भवद्भिर्यदहं पृष्टो निमित्तं जिनभाषितम्।
> समासव्यासतः सर्वं तन्निबोध यथाविधि ॥ -२-२ ॥

ऐसी हालतमें इस खंडका नाम 'ज्योतिषखंड' कहना पूर्वापर विरोधको सूचित करता है। खंडोंके इस नामकरणके समान बहुतसे अध्यायोंका नामकरण भी ठीक नहीं हुआ। उदाहरणके तौरपर तीसरे खंडके 'फल' नामके अध्यायको लीजिए। इसमें सिर्फ कुछ स्वप्नों और ग्रहोंके फलका वर्णन है। यदि इतने परसे ही इसका नाम 'फलाध्याय' रक्खा गया तो इससे पहलेके स्वप्नाध्यायको और ग्रहाचार प्रकरणके अनेक अध्यायोंको फलाध्याय कहना चाहिए था। क्योंकि उनमें भी इसी प्रकारका विषय है। बल्कि उक्त फलाध्यायमें जो ग्रहाचारका वर्णन है उसके सब श्लोक पिछले ग्रहाचारसंबंधी अध्यायोंसे

ही उठाकर रक्खे गये हैं, तो भी उन पिछले अध्यायोंको फलाध्याय नाम नहीं दिया गया । इसलिए कहना पड़ता है कि यह नामकरण भी ठीक नहीं हुआ । इसके सिवाय ग्रंथके आदिमें मंगलाचरणपूर्वक जो प्रतिज्ञा-वाक्य दिया है और जिसे संपूर्ण ग्रंथके लिए व्यापक समझना चाहिए वह इस प्रकार है:-

> गोवर्धनं गुरुं नत्वा दृष्ट्वा गौतमसंहिताम् ।
> वर्णाश्रमस्थितियुतां संहिता वर्ण्यतेऽधुना ॥ ३ ॥

अर्थात्—' गोवर्धन ' गुरुको नमस्कार करके और ' गौतमसंहिता ' को देखकर अब वर्णों तथा आश्रमोंकी स्थितिवाली संहिताका वर्णन किया जाता है ।

इस प्रतिज्ञा-वाक्यमें ' अधुना ' (अब) शब्द बहुत खटकता है और इस बातको सूचित करता है कि ग्रंथमें पहलेसे कोई कथन चल रहा है जिसके बादका यह प्रकरण है; परन्तु ग्रंथमें इससे पहले कोई कथन नहीं है । सिर्फ मंगलाचरणके दो श्लोक और दिये हैं जो ' नत्वा ' और ' प्रणम्य ' शब्दोंसे शुरू होते हैं और जिनमें कोई अलग प्रतिज्ञा-वाक्य नहीं है । इस लिए इन दोनों श्लोकोंसे सम्बंध रखनेवाला यह ' अधुना ' शब्द नहीं हो सकता । परन्तु इसे रहने दीजिए और ख़ास प्रतिज्ञा पर ध्यान दीजिए । प्रतिज्ञामें संहिताका अभिधेय—संहिताका उद्देश—वर्णों और आश्रमोंकी स्थितिको बतलाना प्रगट किया है । इस अभिधेयसे दूसरे तीसरे खंडोंका कोई सम्बंध नहीं; खासकर दूसरा ' ज्योतिषखंड ' बिलकुल ही अलग हो जाता है और वह कदापि इस वर्णाश्रमवती संहिताका अंग नहीं हो सकता । दूसरे खंडके शुरूमें, ' अथ भद्रबाहुसंहितायां उत्तरखंडः प्रारभ्यते ' के बाद ' ॐनमः सिद्धेभ्यः, श्रीभद्रबाहवे नमः ' ये दो मंत्र देकर, ' अथ भद्रबाहुकृतनिमित्तग्रंथः लिख्यते ' यह एक वाक्य दिया है । इससे भी इस दूसरे खंडका अलग

ग्रंथ होना पाया जाता है। इतना ही नहीं, इस खंडके पहले अध्यायमें ग्रंथके बननेका सम्बंध (शिष्योंका भद्रबाहुसे प्रश्न आदि) और ग्रंथके (दूसरे खंडके) अध्यायों अथवा विषयोंकी सूची भी दी है जिससे इस खंडके भिन्न ग्रंथ होनेकी और भी अधिकताके साथ पुष्टि होती है। अन्यथा, ग्रंथके बननेकी यह सब सम्बंध-कथा और संहिताके पूरे अध्यायों वा विषयोंकी सूची पहले खंडके शुरूमें दी जानी चाहिए, जहाँ वह नहीं दी गई। यहाँपर खसूसियतके साथ एक खंडके सम्बंधमें वह असम्बद्ध मालूम होती है। दूसरे खंडमें भी इतनी विशेषता और है कि वह संपूर्ण खंड किसी एक व्यक्तिका बनाया हुआ मालूम नहीं होता। उसके आदिके २४ या ज्यादहसे ज्यादह २५ अध्यायोंका टाइप और साँचा, दूसरे अध्यायोंसे भिन्न एक प्रकारका है। वे किसी एक व्यक्तिके बनाये हुए जान पड़ते हैं और शेष अध्याय किसी दूसरे तथा तीसरे व्यक्तिके। यही वजह है कि इस खंडमें शुरूसे २५ वें अध्यायतक तो कहीं कोई मंगलाचरण नहीं है; परन्तु २६ वें अध्यायसे उसका प्रारंभ पाया जाता है, जो एक नई और विलक्षण बात है ×। आम तौर पर जो ग्रंथकर्ता ग्रंथोंमें मंगलाचरण करते हैं वे ग्रंथकी आदिमें उसे जरूर रखते हैं। एक ग्रंथकर्ता होनेकी हालतमें यह कभी संभव नहीं कि ग्रंथकी आदिमें मंगलाचरण न दिया जाकर ग्रंथके मध्य भागसे भी पीछे उसका प्रारंभ किया जाय। इसके सिवाय इन अध्यायोंकी संधियोंमें प्रायः ' इति ' शब्दके बाद " नंग्रंथे भद्रबाहुके निमित्ते " ऐसे विशेष पदोंका प्रयोग पाया जाता है, जो २६ वें अध्यायको छोड़कर संहिता भरमें और किसी भी अध्यायके साथ देखनेमें नहीं आता और इसलिए यह भेद-भाव भी बहुत खटकता

× २६ वें अध्यायका वह मंगलाचरण इस प्रकार है:—

नमस्कृत्य महावीरं सुरासुरनमस्कृतम्।
स्वप्नान्यहं प्रवक्ष्यामि शुभाशुभसमीरितम् ॥ १ ॥

है। संपूर्ण ग्रंथका एक कर्ता होनेकी हालतमें इस प्रकारका भेद भाव नहीं बन सकता। अस्तु। अब एक बात और प्रगट की जाती है जो इस दूसरे खंडकी अध्याय-सूची अथवा विषय-सूचीसे सम्बंध रखती है और वह यह है कि इस खंडके पहले अध्यायमें, क्रमशः कथन करनेके लिए, जो अध्यायों अथवा विषयोंकी सूची दी है उसमें ग्रहयुद्धके बाद 'वातिक' और वातिकके बाद 'स्वप्न' का विषय कथन करना लिखा है। यथाः—

* गन्धर्वनगरं गर्भान् यात्रोत्पातांस्तथैव च ।
ग्रहचारं पृथक्त्वेन ग्रहयुद्धं च कृत्स्नशः ॥ १६ ॥
वातिकं चाथ स्वप्नांश्च मुहूर्तांश्च तिथींस्तथा ।
करणानि निमित्तं च शकुनं पाकमेव च ॥ १७ ॥

परन्तु कथन करते हुए 'ग्रहयुद्ध' के बाद 'ग्रहसंयोग अर्घकांड' नामका एक अध्याय (नं० २५) दिया है और फिर उसके बाद 'स्वप्नाध्याय' का कथन किया है। यद्यपि 'ग्रहसंयोग अर्घकांड' नामका विषय ग्रहयुद्धका ही एक विशेष है और इस लिए श्लोक नं० १६ में लिये हुए 'कृत्स्नशः' पदसे उसका ग्रहण किया जा सकता है; परन्तु इस अध्यायके बाद 'वातिक' नामके अध्यायका कोई वर्णन नहीं है। स्वप्नाध्यायसे पहले ही नहीं, बल्कि पीछे भी उसका कहीं कथन नहीं है। इस लिए कथनसे इस विषयका साफ छूट जाना पाया जाता है। इसके आगे, विषय-सूचीमें, श्लोक नं० १७ के बाद ये दो श्लोक और दिये हैं:—

ज्योतिषं केवलं कालं वास्तु दिव्येन्द्रसंपदा ।
लक्षणं व्यंजनं चिह्नं तथा दिव्यौषधानि च ॥१५॥

---

* इससे पहले विषय-सूचीका निम्नश्लोक और है:—

उल्का समासतो व्यासात्परिवेषांस्तथैव च ।
विद्युतोऽभ्राणि संध्याश्च मेघान्वातान्प्रवर्षणम् ॥१५॥

वलावलं च सर्वेषां विरोधं च पराजयं ।
तत्सर्वमानुपूर्वेण प्रब्रवीहि महामते ॥ १६ ॥

इन श्लोकोंमें ' वलावलं च सर्वेषां' इस पदके द्वारा पूर्वकथित संपूर्ण विषयोंके वलावलकथनकी सूचना की गई है; परन्तु कथन करते हुए, अध्याय नं० ४१ और ४२ में सिर्फ ग्रहोंका ही वलावल दिखलाया गया है। शेष किसी भी विषयके वलावलका इन दोनों अध्यायोंमें कहीं कोई वर्णन नहीं है और न आगे ही इस विषयका कोई अध्याय पाया जाता है। इसलिए यह कथन अधूरा है और प्रतिज्ञाका एक अंश पालन किया गया मालूम होता है। यदि श्लोक नं० १९ को १६ के बाद रक्खा जाय तो " वलावलं च सर्वेषां ' इस पदके द्वारा ग्रहोंके वलावलकथनका बोध हो सकता है। और श्लोक नं० १४ में दिये हुए ' सुखग्राह्यं लघुग्रथं ' इस पदका भी कुछ अर्थ सध सकता है (यद्यपि श्रुतकेवलीके सम्वन्धमें लघुग्रंथ होनेकी वात कुछ अधिक महत्त्वकी नहीं समझी जा सकती); परन्तु ऐसा करनेपर श्लोक नं० १७–१८ और उनके कथन-विषयक समस्त अध्यायोंको अस्वीकार करके—ग्रन्थका अंग न मान कर—ग्रंथसे अलग करना होगा जो कभी इष्ट नहीं हो सकता। इस लिए कथन अधूरा है और उसके द्वारा प्रतिज्ञाका सिर्फ एक अंश पालन किया गया है, यही मानना पड़ेगा। इस प्रकारकी और भी अनेक विलक्षण वातें हैं जिनको इस समय यहाँपर छोड़ा जाता है। इन सव विलक्षणोंसे ग्रंथमें किसी विशेष गोल मालकी सूचना होती है जिसका अनुभव पाठकोंको आगे चलकर स्वतः हो जायगा। यहाँ पर मैं इतना जरूर कहूँगा और इस कहनेमें मुझे जरा भी संकोच नहीं है कि ऐसा असम्वद्ध, अधूरा, अव्यवस्थित और विलक्षणोंसे पूर्ण ग्रंथ भद्रवाहु श्रुतकेवली जैसे विद्वानोंका वनाया हुआ नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता? यद्यपि विद्वानोंको इस वातके वतलानेकी जरूरत नहीं है; वे इस ऊप-

रके कथन परसे ही सब कुछ अनुभव कर सकते हैं; परन्तु फिर भी चूँकि समाजमें घोर अज्ञानान्धकार फैला हुआ है, अन्धी श्रद्धाका प्रबल राज्य है, गतानुगतिकता चल रही है, स्वतंत्र विचारोंका वातावरण बंद है और कुछ विद्वान् भी उसमें दिशा भूल रहे हैं, इस लिए मैं सविशेष रूपसे इस बातको सिद्ध करनेकी चेष्टा करूँगा कि यह ग्रंथ भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ नहीं है।

श्वेताम्बरोंकी मान्यता।

परन्तु इस सिद्ध करनेकी चेष्टासे पहले मैं अपने पाठकोंको यह बतला देना जरूरी समझता हूँ कि यह ग्रंथ (भद्रबाहुसंहिता) श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ माना जाता है। श्वेताम्बर साधु मुनि आत्मारामजीने अपने 'तत्त्वादर्श' के आन्तिम परिच्छेदमें भद्रबाहु श्रुतकेवलीके साथ उसका भी नामोल्लेख किया है और उसे एक ज्योतिष शास्त्र बतलाया है, जिससे इस संहिताके उस दूसरे खंडका अभिप्राय जान पड़ता है जो ऊपर एक अलग ग्रंथ सूचित किया गया है। बम्बईके श्वेताम्बर बुकसेलर शा भीमसिंह माणिकजीने इसी भद्रबाहुसंहिता नामके ज्योतिःशास्त्रका गुजराती अनुवाद संवत् १९५९ में छपाकर प्रसिद्ध किया था; जिसकी प्रस्तावनामें उक्त प्रसिद्धकर्ता महाशयने लिखा है कि:—

" आ भद्रबाहुसंहिता ग्रंथ जैनना ज्योतिष विषयमां आद्य ग्रंथ छे. तेमना रचनार श्रीभद्रबाहुस्वामि, चौदपूर्वधर श्रुतकेवली हता. तेमनां वचनो जैनमां आप्त वचनो गणाय छे। ... श्रीभद्रबाहुसंहिता नामना ग्रंथनी महत्वता अति छतां आ प्रसिद्ध थयेला भाषांतररूप ग्रंथनी महत्वता जो जनसमुदायने अल्प लागे तो तेनो दोष पंचमकालने शिर छे। "

प्रसिद्धकर्ताके इन वाक्योंसे श्वेताम्बरसम्प्रदायमें ग्रंथकी मान्यताका अच्छा पता चलता है; परन्तु इतना जरूर है कि इस सम्प्रदायमें

भी दिगम्बर सम्प्रदायके समान, यह ग्रंथ कुछ अधिक प्रचलित नहीं है। इसी लिए श्रीयुत मुनि जिनविजयजी अपने पत्रमें लिखते हैं कि "पाटनके किसी नये या पुराने भंडारमें भद्रबाहुसंहिताकी प्रति नहीं है। गुजरातके या मारवाड़के अन्य किसी प्रसिद्ध भंडारमें भी इसकी प्रति नहीं है। श्वेताम्बरोंके भद्रबाहुचरितोंमें उनके संहिता बनानेका उल्लेख मिलता है; परन्तु पुस्तक अभीतक नहीं देखी गई।"

गुजराती अनुवाद।

संहिताके इस गुजराती अनुवादके साथ मूलग्रंथ लगा हुआ नहीं है। प्रस्तावनामें लिखा है कि "यह अनुवाद श्रावक हीरालाल हंसराजजीका किया हुआ है, जिन्होंने माँगने पर भी मूलग्रंथ नहीं दिया और न प्रयत्न करने पर किसी दूसरे स्थानसे ही मूलग्रंथकी प्राप्ति हो सकी। इससे समूल छापनेकी इच्छा रखते भी यह अनुवाद निर्मूल ही छापा गया है।" यद्यपि इस अनुवादके सम्बंधमें मुझे कुछ कहनेका अवसर नहीं है; परन्तु सर्व साधारणकी विज्ञप्ति और हितके लिए संक्षेपसे, इतना जरूर कहूँगा कि यह अनुवाद सिरसे पैरतक प्रायः गलत मालूम होता है। इस अनुवादमें ग्रंथके दो स्तबक (गुच्छक) किये हैं, जिनमें पहले स्तबकमें २१ अध्यायोंका और दूसरेमें २२ अध्यायोंका अनुवाद दिया है। पहले स्तबकका मिलान करनेसे जान पड़ता है कि अनुवादक जगह जगहपर बहुतसे श्लोकोंका अनुवाद छोड़ता, कुछ कथन अपनी तरफसे मिलाता और कुछ आगे पीछे करता हुआ चला गया है। शुभचारके कथनमें उसने २३४ श्लोकोंके स्थानमें सिर्फ पाँच सात श्लोकोंका ही अनुवाद दिया है। मंगलचार, राहुचार, सूर्यचार, चंद्रचार और ग्रहसंयोग अर्घकाण्ड नामके पाँच

---

१ यह पत्र श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीके नाम लिखा गया है।

अध्यायोंका अनुवाद क़तई छोड़ दिया है । उनका ग्रंथमें नाम भी नहीं है । रही दूसरे स्तवककी बात, सो वह बिलकुल ही विलक्षण तथा अनुवादक द्वारा कल्पित मालूम होता है । संहिताके पहले अध्यायमें ग्रंथ भरमें क्रमश: वर्णनीय विषयोंकी जो उपर्युल्लिखित सूची लगी हुई है और जिसका अनुवाद अनुवादकने भी दिया है उससे इस स्तवकका प्राय: कुछ भी सम्बंध नहीं मिलता । उसके अनुसार इस स्तवकमें मुहूर्त, तिथि, करण, निमित्त, शकुन, पाक, ज्योतिष, काल, वास्तु, इंद्रसंपदा, लक्षण, व्यंजन, चिह्न, ओषधि, सर्व निमित्तोंका बलाबल, विरोध और पराजय, इन विषयोंका वर्णन होना चाहिए था, जो नहीं है । उनके स्थानमें यहाँ राशि, नक्षत्र, योग, ग्रहस्वरूप, केतुको छोड़कर शेष ग्रहोंकी महादशा, राजयोग, दीक्षायोग, और ग्रहोंके द्वादश भावोंका फल, इन बातोंका वर्णन दिया है । चूँकि यह अनुवाद मूलके अनुकूल नहीं था शायद इसी लिए अनुवादकको मूल ग्रंथकी कापी देनेमें संकोच हुआ हो । अन्यथा दूसरी कोई वजह समझमें नहीं आती । प्रकाशकको भी अनुवाद पर कुछ संदेह हो गया है और इसीलिए उन्होंने अपनी प्रस्तावनामें लिखा है कि—

" आ भाषांतर ' खरी भद्रबाहुसंहिता ' नामना ग्रंथनुं छे एम विद्वानोनी नजरमां आवे तो ते बाबतनो मने अति संतोष थशे, परंतु तेथी विरुद्ध जो विद्वानोनी नजरमां आवे तो हुं तो लेशमात्र ते दोषने पात्र नथी. में तो सरल अंतःकरणथी आ ग्रंथ खरा ग्रंथनुं भाषांतर छे एम मानी छपाव्यो छे तेम छतां विद्वानोनीं नजरमां मारी भूल लागे तो हुं क्षमा मागुं छुं । "

इस प्रस्तावनामें प्रकाशकजीके उन विचारोंका भी उल्लेख है जो मूलग्रंथके सम्बंधमें इस अनुवाद परसे उनके हृदयमें उत्पन्न हुए हैं और जो इस प्रकार हैं:—

" श्रीवराहमिहिरे करेली वाराहीसंहिता अति विस्तारयुक्त ग्रंथ छे, तेनां प्रमाणमां आ उपलब्ध थयेलो भद्रबाहुसंहिता ग्रंथ अति स्वल्प छे. श्रीभद्रबाहुस्वामि जेवा श्रुतकेवली पुरुषे ज्योतिष विषयनो रचेलो ग्रंथ आटलो स्वल्प

होय एम अंतःकरण कबुल करतुं नथी; ते ग्रंथ वाराहीसंहिता करतां पण अति विस्तारवालो होवो जोइए।"

समझमें नहीं आता कि क्यों हीरालालजीने ऐसा अधूरा, गलत और कल्पित अनुवाद प्रकाशित करनेके लिए दिया और क्यों उसे भीमसी माणिकजीने ऐसी संदिग्धावस्थामें प्रकाशित किया। यदि सचमुच ही श्वेताम्बरसम्प्रदायमें ऐसी कोई भद्रबाहुसंहिता मौजूद है जिसका उपर्युक्त गुजराती अनुवाद सत्य समझा जाय तो मुझे इस कहनेमें भी कोई संकोच नहीं है कि वह संहिता और भी अधिक आपत्तिके योग्य है।

ग्रन्थ कब बना? और किसने बनाया?

अब यहाँ पर, विशेष रूपसे परीक्षाका प्रारंभ करते हुए, कुछ ऐसे प्रमाण पाठकोंके सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं जिनसे यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाय कि यह ग्रंथ भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ नहीं है और जब उनका बनाया हुआ नहीं है तो यह कब बना है और इसे किसने बनाया है:—

१ इस ग्रंथके दूसरे खंडके पहले अध्यायमें ग्रंथके बननेका जो सम्बंध प्रगट किया है उसमें लिखा है कि,—एक समय राजगृह नगरके पांडुगिरि पर्वत पर अनेक शिष्य–प्रशिष्योंसे घिरे हुए द्वादशांगके वेत्ता भद्रबाहु मुनि बैठे हुए थे। उन्हें प्रीतिपूर्वक नमस्कार करके शिष्योंने, दिव्यज्ञानके कथनकी आवश्यकता प्रगट करते हुए, उनसे उस दिव्यज्ञान नामके निमित्त ज्ञानको बतलानेकी प्रार्थना की और साथ ही, उन विषयोंकी नामावली देकर जिनकी क्रमशः कथन करनेकी प्रार्थना की गई, उन्होंने नम्रताके साथ अन्तमें यह निवेदन किया:—

सर्वानेतान्यथोद्दिष्टान् भगवन्वक्तुमर्हसि।
प्रश्नं शुश्रूषवः सर्वे वयमन्ये च साधवः॥ २०॥

अर्थात्–' हे भगवन् क्या आप कृपाकर इन समस्त यथो द्दिष्ट विषयोंका वर्णन करेंगे ? हम सब शिष्यगण तथा अन्य साधुजन उनके सुननेकी इच्छा रखते हैं। ' इसके बाद ग्रंथमें दूसरे अध्यायका प्रारंभ करते हुए, जो वाक्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

ततः प्रोवाच भगवान् दिग्वासा श्रमणोत्तमः।
यथावस्थासुविन्यासद्वादशांगविशारदः ॥ १ ॥
भवद्भिर्यदहं पृष्टो निमित्तं जिनभाषितं।
समासव्यासतः सर्वं तन्निबोध यथाविधि ॥ २ ॥

अर्थात्–यह सुनकर यथावत् द्वादशांगके ज्ञाता उत्कृष्ट दिगम्बर साधु भगवान् भद्रबाहु बोले कि ' आप लोगोंने संक्षेप-विस्तारसे जो कुछ जिनभाषित निमित्त मुझसे पूछा है उस संपूर्ण निमित्तको सुनिए।'

एक स्थानपर, इसी खंडके ३६ वें अध्यायमें पुरुषलक्षणोंके बाद स्त्री-लक्षणोंका वर्णन करते हुए यह भी लिखा है:–

कन्या च कीदृशी ग्राह्या कीदृशी च विवर्जिता।
कीदृशी कुलजा चैव भगवन्वक्तुमर्हसि ॥ १३६ ॥
भद्रबाहुरुवाचेति भो भव्याः संनिबोधत।
कन्याया लक्षणं दिव्यं दोषकोशविवर्जितम् ॥ १३७ ॥

अर्थात्—हे भगवन्, क्या आप कृपया यह बतलाएँगे कि ग्राह्य कन्या कैसी होती है, विवर्जिता कैसी और कुलजा किस प्रकारकी होती है ? इस पर भद्रबाहु बोले कि हे भव्यपुरुषो तुम कन्याका दोषजालसे रहित दिव्य लक्षण सुनो। इसके सिवाय इस खंडके बहुतसे श्लोकोंमें 'भद्रबाहुवचो यथा–' भद्रबाहुने ऐसा कहा है–इन शब्दोंके प्रयोगद्वारा, यह सूचित किया है कि अमुक अमुक कथन भद्रबाहुके वचनानुसार लिखा गया है। उन श्लोकोंमेंसे दो श्लोक नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

पापासूल्कासु यवस्तु यदा देवः प्रवर्षति।
प्रशांतं तद्भयं विंद्याद्भद्रबाहुवचो यथा ॥ ३-६५ ॥

द्योतयंती दिशः सर्वा यदा संध्या प्रदृश्यते ।
महामेघस्तदा विंद्याद्भद्रबाहुवचो यथा ॥ ७–१६ ॥

इस संपूर्ण कथन और कथन-शैलीसे मालूम होता है कि यह ग्रंथ अथवा कमसे कम इसका दूसरा खंड भले ही भद्रबाहुश्रुतकेवलीके वचनानुसार लिखा गया हो; परन्तु वह खास भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ नहीं है और चूँकि ऊपर भद्रबाहुके कथनके साथ 'प्रोवाच-उवाच' ऐसी परोक्षभूतकी क्रियाका प्रयोग किया गया है, जिसका यह अर्थ होता है कि वह प्रश्नोत्तररूपकी संपूर्ण घटना ग्रंथ-कर्ताकी साक्षात् अपनी आँखोंसे देखी हुई नहीं है–वह उस समय मौजूद ही न था–उससे बहुत पहलेकी बीती हुई वह घटना है। इसलिए यह ग्रंथ भद्रबाहु श्रुतकेवलीके किसी साक्षात् शिष्य या प्रशिष्यका भी बनाया हुआ नहीं है। इसका सम्पादन बहुत काल पीछे किसी तीसरे ही व्यक्तिद्वारा हुआ है,जिसके समयादिकका निर्णय आगे चलकर किया जायगा। यहाँ पर सिर्फ़ इतना ही समझना चाहिए कि यह ग्रंथ भद्रबाहुका बनाया हुआ या भद्रबाहुके समयका बना हुआ नहीं है।

२ द्वादशांग वाणी अथवा द्वादशांग श्रुतके विषयमें जो कुछ कहा जाता है और जैनशास्त्रोंमें उसका जैसा कुछ स्वरूप वर्णित है उससे मालूम होता है कि संसारमें कोई भी विद्या या विषय ऐसा नहीं होता जिसका उसमें पूरा पूरा वर्णन न हो और न दूसरा कोई पदार्थ ही ऐसा शेष रहता है जिसका ज्ञान उसकी परिधिसे बाहर हो। इसलिए संपूर्ण ज्ञान-विज्ञानका उसे एक अनुपम भंडार समझना चाहिए। उसी द्वादशांग श्रुतके असाधारण विद्वान् श्रुतकेवली भगवान् होते हैं। उनके लिए कोई भी विषय ऐसा बाक़ी नहीं रहता जिसका ज्ञान उन्हें द्वादशांगको छोड़कर किसी दूसरे ग्रंथ द्वारा सम्पादन करना पड़े। इसलिए उन्हें संपूर्ण विषयोंके पूर्ण ज्ञाता समझना चाहिए। वे, जाननेके मार्ग प्रत्यक्ष परोक्ष-

भेदको छोड़कर समस्त पदार्थोंको केवल ज्ञानियोंके समान ही जानते और अनुभव करते हैं। ऐसी हालत होते हुए, श्रुतकेवलीके द्वारा यदि कोई ग्रंथ रचा जाय तो उसमें केवलज्ञानीके समान, उन्हें किसी आधार या प्रमाणके उल्लेख करनेकी जरूरत नहीं है और न द्वादशांगको छोड़कर दूसरे किसी ग्रंथसे सहायता लेनेहीकी जरूरत है। उनका वह ग्रंथ एक स्वतंत्र ग्रंथ होना चाहिए। उसमें, खंडनमंडनको छोड़कर, यदि आधार प्रमाणका कोई उल्लेख किया भी जाय–अपने प्रतिपाद्य विषयकी पुष्टिमें किसी वाक्यके उद्धृत करनेकी जरूरत भी पैदा हो, तो वह केवली और द्वादशांगश्रुतको छोड़कर दूसरे किसी व्यक्ति या ग्रंथसे सम्बंध रखनेवाला न होना चाहिए। ऐसा न करके दूसरे ग्रंथों और ग्रंथकर्ताओंका उल्लेख करना, उनके आधार पर अपने कथनकी रचना करना, उनके वाक्योंको उद्धृत करके अपने ग्रंथका अंग बनाना और किसी खास विषयको, उत्तमताकी दृष्टिसे, उन दूसरे ग्रंथोंमें देखनेकी प्रेरणा करना, यह सब काम श्रुतकेवली-पदके विरुद्ध ही नहीं किन्तु उसको बट्टा लगानेवाला है। ऐसा करना, श्रुत-केवलीके लिए, केवली भगवान् और द्वादशांग श्रुतका अपमान करनेके बराबर होगा, जिसकी श्रुतकेवली जैसे महर्षियों द्वारा कभी आशा नहीं की जा सकती। चूँकि इस ग्रंथमें स्थानस्थान पर भद्रबाहुका ऐसा ही अयुक्ताचरण प्रगट हुआ है इससे मालूम होता है कि यह ग्रंथ भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ नहीं है। नमूनेके तौरपर यहाँ उसका कुछ थोड़ासा परिचय दिया जाता है। विशेष विचार यथावसर आगे होगा:—

(क) दूसरे खंडके ३७ वें अध्यायमें, घोड़ोंका लक्षण वर्णन करते हुए, घोड़ोंके अरबी आदि १८ भेद बतलाकर लिखा है कि,–उनके लक्षण नीतिके जाननेवाले ' चंद्रवाहन'ने कहे हैं। यथा:—

ऐरावताश्च काश्मीरा हया अष्टादशस्मृताः ।
तेषां च लक्षणान्यूचे नीतिविच्चंद्रवाहनः ॥ १२६ ॥

इस कथनसे पाया जाता है कि ग्रंथकर्ता (भद्रबाहु) ने चंद्रवाहनके कथनको द्वादशांगके कथनसे उत्तम समझा है और इसी लिए उसके देखनेकी प्रेरणा की है।

(ख) तीसरे खंडमें ' शांतिविधान ' नामका १० वाँ अध्याय है, जिसमें दो श्लोक इस प्रकारसे पाये जाते हैं:—

परिभाषासमुद्देशे समुद्दिष्टेन लक्षणात् ।
तन्मध्ये कारयेत्कुंडं शांतिहोमक्रियोचितं ॥ १५ ॥
हुताशनस्य मंत्रज्ञः क्रियां संधुक्षणादिकां ।
विदध्यात्परिभाषायां प्रोक्तेन विधिना क्रमात् ॥ १६ ॥

इन दोनों श्लोकोंमें 'परिभाषासमुद्देश' नामके किसी ग्रंथका उल्लेख है। पहले श्लोकमें परिभाषासमुद्देशमें कहे हुए लक्षणके अनुसार होमकुंड बनानेकी और दूसरेमें उक्त ग्रंथमें कही हुई विधिके अनुसार संधुक्षणादिक (आग जलाना आदि) क्रिया करनेकी आज्ञा है । इसी खंडके छठे अध्यायमें, यंत्रोंकी नामावली देते हुए, एक–' यंत्रराज ' नामके शास्त्रका भी उल्लेख किया है और उसके सम्बंधमें लिखा है कि, इस शास्त्रके जानने मात्रसे बहुधा निमित्तोंका कथन करना आजाता है। यथाः—

यंत्रराजागमे तेषां विस्तारः प्रतिपादितः ।
येन विज्ञानमात्रेण निमित्तं बहुधा वदेत् ॥ २६ ॥

ये दोनों ग्रंथ (परिभाषासमुद्देश और यंत्रराज) द्वादशांग श्रुतका कोई अंग न होनेसे दूसरे ही विद्वानोंके बनाये हुए ग्रंथ मालूम होते हैं, जिनका यहाँ आदरके साथ उल्लेख किया गया है और जिनका यह उल्लेख, ग्रंथकर्ताकी दृष्टिसे, उनमें द्वादशांगसे किसी विशिष्टताका होना सूचित करता है ।

(ग) पहले खडके पहले अध्यायमें 'गौतमसंहिता' को देखकर इस संहिताके कथन करनेकी प्रतिज्ञा की गई है। साथ ही दो स्थानों पर ये वाक्य और दिये हैं:—

१–आचमनस्वरूपभेदा गौतमसंहितातो ज्ञातव्याः ।

२–पात्रभेदा गौतमसंहितायां द्रष्टव्याः । भूम्यादिदानभेदाश्च ग्रंथान्तरात् उत्सेयाः ।

इनमें लिखा है कि (१) आचमनका स्वरूप और उसके भेद गौतमसंहितासे जानने चाहिए। (२) पात्रोंके भेद गौतमसंहितामें देखने चाहिए और भूमि आदि दानके भेद दूसरे ग्रंथोंसे मालूम करने चाहिए। इस संपूर्ण कथनसे 'गौतमसंहिता' नामके किसी ग्रंथका स्पष्टोल्लेख पाया जाता है। गौतमका नाम आते ही पाठकोंके हृदयमें भगवान् महावीरके प्रधान गणधर गौतमस्वामीका खयाल आजाना स्वाभाविक है; परन्तु यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि गौतमस्वामीने द्वादशांग सूत्रोंकी रचना की थी । इसके सिवाय उन्होंने संहिता जैसे किसी अनावश्यक पृथक् ग्रंथकी रचना की हो, इस बातको न तो बुद्धि ही स्वीकार करती है और न किसी माननीय प्राचीन आचार्यकी कृतिमें ही उसका उल्लेख पाया जाता है । इस लिए यह 'गौतमसंहिता' गौतमगणधरका बनाया हुआ कोई ग्रंथ नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय कि संपूर्ण द्वादशांगसूत्रों या द्वादशांग श्रुतका नाम ही 'गौतमसंहिता' है तो यह बात भी नहीं बन सकती । क्योंकि ऊपर उद्धृत किये हुए दूसरे वाक्यमें भूमि आदि दानके भेदोंको ग्रंथान्तरसे जाननेकी प्रेरणा की गई है; जिससे साफ मालूम होता है कि गौतमसंहितामें उनका कथन नहीं था तभी ऐसा कहनेकी जरूरत पैदा हुई और इसलिए द्वादशांग-के लक्षणानुसार ऐसे अधूरे ग्रंथका नाम, जिसमें दानके भेदोंका भी वर्णन न हो, 'द्वादशांगश्रुत' नहीं हो सकता। बहुत संभव है कि इस संहिता-का अवतार भी भद्रबाहुसंहिताके समान ही हुआ हो, अथवा यहाँ पर यह नाम दिये जानेका कोई दूसरा ही कारण हो।

(घ) एक स्थानपर, इस ग्रंथमें, 'जटिलकेश' नामके किसी विद्वान्का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है:—

रविवाराद्या क्रमतो वाराः स्युः कथितजटिलकेशादेः ।
वारा मंदस्य पुनर्दद्यादाशी विपस्यापि ॥३-१०-१७३॥
इन्द्रानिलयमयक्षत्रितयनदहनाब्धिरक्षसां हरितः ।
इह कथित जटिलकेशप्रभृतीनां स्युः क्रमेण दिशः ॥-१७४॥

इन उल्लेखवाक्योंमें लिखा है कि रविवारादिकके क्रमसे वारोंका और इन्द्रादिकके क्रमसे दिशाओंका कथन जटिलकेशादिकका कहा हुआ है, जिसको यहाँ नागपूजाविधिमें, प्रमाण माना है। इससे या तो द्वादशांगश्रुतका इस विषयमें मौन पाया जाता है अथवा यह नतीजा निकलता है कि ग्रंथकर्ताने उसके कथनकी अवहेलना की है।

(ङ) तीसरे खंडके आठवें अध्यायमें उत्पातोंके भेदोंका वर्णन करते हुए लिखा है:—

एतेषां वेदपंचाशद्भेदानां वर्णनं पृथक् ।
कथितं पंचमे खंडे कुमारेण सुविन्दुना ॥ १४ ॥

अर्थात्—इन उत्पातोंके ५४ भेदोंका अलग अलग वर्णन कुमारविन्दुने पाँचवें खंडमें किया है। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि ग्रंथकर्ताने कुमारविन्दुके कथनको द्वादशांगसे श्रेष्ठ और विशिष्ट समझा है तभी उसको देखनेकी इस प्रकारसे प्रेरणा की गई है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि कुमारविन्दुने भी कोई संहिता जैसा ग्रंथ बनाया है जिसमें पाँच खंड जरूर हैं। जैनहितैषीके छठे भागमें 'दिगम्बर-जैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामकी जो बृहत् सूची प्रकाशित हुई है उसमें भी कुमारविन्दुके नामके साथ 'जिनसंहिता' का उल्लेख किया है। यह संहिता अभीतक मेरे देखनेमें नहीं आई; परँतु जहाँ-तक मैं समझता हूँ 'कुमारविन्दु' नामके कोई ग्रंथकर्ता जैनविद्वान् भद्र-बाहु श्रुतकेवलीसे पहले नहीं हुए। अस्तु। द्वादशांग श्रुत और श्रुतके-

वलीके स्वरूपका विचार करते हुए,इन सब कथनोंपरसे यह ग्रंथ भद्रबाहुश्रुतकेवलीका बनाया हुआ प्रतीत नहीं होता।

३ भद्रबाहु श्रुतकेवली राजा श्रेणिकसे लगभग १२५ वर्ष पीछे हुए हैं। इसलिए राजा श्रेणिकसे उनका कभी साक्षात्कार नहीं हो सकता; परन्तु इस ग्रंथके दूसरे खंडमें, एक स्थानपर, दरिद्रयोगका वर्णन करते हुए, उन्हें साक्षात् राजा श्रेणिकसे मिला दिया है और लिख दिया है कि यह कथन भद्रबाहु मुनिने राजा श्रेणिकके प्रश्नके उत्तरमें किया है। यथाः—

> अथातः संप्रवक्ष्यामि दारिद्रं दुःखकारणं।
> लग्नाधिपे रिष्फगते रिष्फेशे लग्नमागते॥ अ० ४१, श्लो० ६५।
> मारकेशयुते दृष्टे जातः स्यान्निर्धनो नरः।
> भद्रबाहुमुनिप्रोक्तः नृपश्रेणिकप्रश्नतः॥–६६॥

पाठक समझ सकते हैं कि ऐसा मोटा झूठ और ऐसा असत्य उल्लेख क्या कभी भद्रबाहुश्रुतकेवली जैसे मुनियोंका हो सकता है? कभी नहीं। मुनि तो मुनि साधारण धर्मात्मा गृहस्थका भी यह कार्य नहीं हो सकता। इससे **ग्रंथकर्ताका, असत्यवक्तृत्व और छल पाया जाता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि वे कोई ऐसे ही योग्य व्यक्ति थे जिनको भद्रबाहु और राजा श्रेणिकके समयतककी भी खबर नहीं थी।** हिन्दुओंके यहाँ 'बृहत्पाराशरी होरा' नामका एक बहुत बड़ा ज्योतिषका ग्रंथ है। इस ग्रंथके ३१ वें अध्यायमें, दरिद्रयोगका वर्णन करते हुए, सबसे पहले जो श्लोक दिया है वह इस प्रकार हैः—

> "लग्नेशे वै रिष्फगते रिष्फेशे लग्नमागते।
> मारकेशयुते दृष्टे जातः स्यान्निर्धनो नरः॥ १॥

ऊपर उद्धृत किये हुए संहिताके दोनों पद्योंमेंसे पहले पद्यका पूर्वार्ध और दूसरे पद्यका उत्तरार्ध अलग कर देनेसे यही श्लोक शेष

रह जाता है। सिर्फ 'लग्नेशे वै' के स्थानमें 'लग्नाधिपे' का परिवर्तन है। इस श्लोकके आगे पीछे लगे हुए उपर्युक्त दोनों आधे आधे पद्य बहुत ही खटकते हैं और असम्बद्ध मालूम होते हैं। दूसरे पद्यका उत्तरार्ध तो बहुत ही असम्बन्द्ध जान पड़ता है। उसके आगे इस प्रकरणके ९ पद्य और दिये हैं, जो उक्त होराके प्रकरणमें भी श्लोक नं० १ के बाद पाये जाते हैं। इससे मालूम होता है कि संहिताका यह सब प्रकरण उक्त होरा ग्रंथसे उठाकर रक्खा गया है और उसे भद्रबाहुका बनानेकी चेष्टा की गई है। इस प्रकारकी चेष्टा अन्यत्र भी पाई जाती है और इस 'पाराशरी होरा'से और भी बहुतसे श्लोकों-का संग्रह किया गया है जिसका परिचय पाठकोंको अगले लेखमें कराया जायगा।

४ इस ग्रंथके दूसरे ज्योतिषखंडमें—केवलकाल नामके ३४ वें अध्यायमें—पंचम कालका वर्णन करते हुए, शक, विक्रम और प्रथम कल्कीका भी कुछ थोड़ासा वर्णन दिया है जिसका हिन्दी आशय इस प्रकार है:—

"वर्धमानस्वामीको मुक्ति प्राप्त होनेपर ६०५ वर्ष और पाँच महीने छोड़कर प्रसिद्ध शकराजा हुआ (अभवत्)। उससे शक संवत् प्रवर्तेगा (प्रवर्त्स्यति)। ४७० वर्षसे (?) प्रभु विक्रम राजा उज्जयिनीमें अपना संवत् चलावेगा (वर्तयिष्यति)। शक राजाके बाद ३९४ वर्ष और सात महीने बीतनेपर सद्धर्मका द्वेषी और ७० वर्षकी आयुका धारक 'चतुर्मुख' नामका पहला कल्की हुआ (आसीत्)। उसने एक दिन अजितभूम नामके मंत्रीको यह आज्ञा की (आदिशत्) कि 'पृथ्वी पर निर्ग्रंथमुनि हमारे अधीन नहीं हैं।' उनके पाणिपात्रमें सबसे पहले जो ग्रास रक्खा जाय उसे तुम करके तौर पर ग्रहण करो। इस नरककी कारणभूत आज्ञाको सुनकर मूढ़बुद्धि मंत्रीने वैसा ही किया

(अकरोत्)। इस उपद्रवके कारण मुनिजन राजासे व्याकुल हुए (आसन्)। उस उपसर्गको जानकर जिनशासनके रक्षक असुरेन्द्र चतुर्मुखको मार डालेंगे (हनिष्यन्ति)। तब वह पापात्मा कल्की मरकर अपने पापकी वजहसे समस्त दुःखोंकी खान पहले नरकमें गया (गतः)। उसी समय कल्कीका जयध्वजनामका पुत्र सुरेन्द्रके भयसे सुरेन्द्रके किये हुए जिनशासनके माहात्म्यको प्रत्यक्ष देखकर और काललब्धिके द्वारा सम्यक्त्वको पाकर अपनी सेना और बन्धुजनादि सहित सुरेन्द्रकी शरण गया (जगाम)॥ ४७–५७ ॥"

ऊपरके इस वर्णनको पढ़कर निःसन्देह पाठकोंको कौतुक होगा! उन्हें इसमें भूतकाल और भविष्यत्कालकी क्रियाओंका बड़ा ही विलक्षण योग देखनेमें आयगा। साथ ही, ग्रंथकर्ताकी योग्यताका भी अच्छा परिचय मिल जायगा। परन्तु यहाँ ग्रंथकर्ताकी योग्यताका परिचय कराना इष्ट नहीं है–इसका विशेष परिचय दूसरे लेख द्वारा कराया जायगा, यहाँपर सिर्फ यह देखनेकी जरूरत है कि इस वर्णनसे ग्रंथके सम्बंधमें किस बातका पता चलता है। पता इस बातका चलता है कि यह ग्रंथ भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ न होकर शक संवत् ३९५ अथवा विक्रम सं० ५३० से भी पीछेका बना हुआ है। यही वजह है कि इसमें उक्त समयसे पहलेकी घटनाओं (प्रथमकल्कीका होना आदि)का उल्लेख भूतकालकी क्रियाओं द्वारा पाया जाता है। ऊपरका सारा वर्णन भूतकालकी क्रियाओंसे भरा हुआ है-उसका प्रारंभ भी भूतकालकी क्रियासे हुआ है और अन्त भी भूतकालकी क्रियासे, सिर्फ मध्यमें तीन जगह भविष्यत्कालकी क्रियाओंका प्रयोग है जो बिलकुल असम्बद्ध मालूम होता है। इस असम्बद्धताका विशेष अनुभव प्राप्त करनेके लिए मूल श्लोकोंको देखना चाहिए जो इस प्रकार हैं:—

त्यक्त्वा संवत्सरान्पंचाधिकषट्संमितान्।
पंचमासयुतान्मुक्तिं वर्द्धमाने गते सति ॥ ४७ ॥

शकराजोऽभवत् ख्यातः तेन शाकः प्रवर्त्स्यंति ।
चतुर्वर्षशतैः सप्तत्यधिकैर्विक्रमो नृपः ।
उज्जयिन्यां प्रभुः स्वस्य वत्सरं वर्तयिष्यति ॥ ४८ ॥
उपसर्गं विदित्वा तं मुनीनामसुराधिपः ।
चतुर्मुखं हनिष्यन्ति जिनशासनरक्षकः ॥ ५४ ॥

इनमेंसे दूसरा श्लोक (नं० ४८) वास्तवमें डेढ़ श्लोक है । उसके पूर्वार्धका सम्बंध पहले श्लोक (नं. ४७) से मिलता है; परन्तु शेष दोनों अर्ध भागोंका कोई सम्बंध ठीक नहीं बैठता । 'त्यक्त्वा' शब्दके साथ '**चतुर्वर्षशतैः सप्तत्यधिकैः**' इन पदोंका कुछ भी मेल नहीं है । इसी प्रकार '**अभवत्**' के साथ '**प्रवर्त्स्यंति**' क्रियाका भी कोई मेल नहीं है । **प्रवर्तते** क्रियाका संबंध ठीक बैठ सकता है । तीसरे श्लोक (नं० ५४) में '**हनिष्यन्ति**' यह क्रिया बहुवचनात्मक है और इसका कर्ता '**असुराधिपः**' एक वचनात्मक दिया है । इससे क्रियाका यह प्रयोग गलत है । यदि इस क्रियाको एक वचनकी क्रिया '**हनिष्याति**' समझ लिया जाय, तो भी काम नहीं चलता उससे छंदोभंग होता है । इस लिए यह क्रिया किसी तरह भी ठीक नहीं बैठती । इसके स्थानमें परोक्षभूतकी क्रियाको लिये हुए '**जघानेति**' पदका प्रयोग बहुत ठीक हो सकता है और उससे आगे पीछेका सारा सम्बन्ध मिल जाता है । परतु यहाँ ऐसा नहीं है । अस्तु । इन्हीं सब बातोंसे यह कथन एक विलक्षण कथन होगया है । अन्यथा, ग्रंथमें, इसके आगे '**जलमंथन**' नामके कल्कीका--जिसका अवतार अभीतक भी नहीं हुआ--पाँचवें कालके अन्तमें होना कहा जाता है--जो वर्णन दिया है उसमें इस प्रकारकी विलक्षणता नहीं है । उसका सारा वर्णन भविष्यत्कालकी क्रियाओंको लिये हुए है । तब यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि इसी वर्णनके साथ यह विलक्षणता क्यों है ? इसका कोई कारण जरूर होना चाहिए । मेरे खयालमें कारण यह है कि यह सारा प्रकरण ही नहीं

बल्कि संभवतः सारा अध्याय किसी ऐसे पुराणादिक ग्रंथसे उठाकर यहाँ रक्खा गया है जो विक्रम संवत् ५३० से बहुत पीछेका बना हुआ था। ग्रंथकर्ताने ऊपरके वर्णनका भद्रबाहुके साथ सम्बंध मिलाने और उसे भद्रबाहुकी भविष्यद्वाणी प्रगट करनेके लिए उसमें भविष्यत्कालकी क्रियाओंका परिवर्तन किया है। परंतु मालूम होता है कि वह सब क्रिया-ओंको यथेष्ट रीतिसे बदल नहीं सका। इसीसे इस वर्णनमें इस प्रकारकी विलक्षणता और असम्बद्धताका प्रादुर्भाव हुआ है। मेरा यह उपर्युक्त खयाल और भी दृढ़ताको प्राप्त होता है जब कि इस अध्यायके अन्तमें यह श्लोक देखनको मिलता है:—

इत्येतत्कालचक्रं च केवलं भ्रमणान्वितं ।
षड्भेदं संपरिज्ञायशिवं साधयतं नृप ॥ १२४ ॥

इस श्लोकमें लिखा है कि—हे राजन् इस प्रकारसे केवल भ्रमणको लिये हुए इस छह भेदोंवाले कालचक्रको भले प्रकार जानकर तुम अपना कल्याण साधन करो। यहाँ पर पाठकोंको यह बतला देना जरूरी है कि इस ग्रंथमें इससे पहले किसी राजाका कोई संबंध नहीं है और न किसी राजाके प्रश्नपर इस ग्रंथकी रचना की गई है, जिसको सम्बोधन करके यहाँपर यह वाक्य कहा जाता। इसलिए यह वाक्य यहाँ पर बिलकुल असम्बद्ध है और इस बातको सूचित करता है कि यह प्रकरण किसी ऐसे पुराणादिक ग्रंथसे उठाकर रक्खा गया है जो वि० सं० ५३० के बादका बना हुआ है और जिसमें किसी राजाको लक्ष्य करके अथवा उसके प्रश्नपर इस सारे कथनकी रचना की गई है और इसलिए यह उस ग्रंथसे भी बादका बना हुआ है।

५ एक स्थानपर, दूसरे खंडमें, निमित्ताध्यायका वर्णन करते हुए, ग्रंथकर्ताने यह प्रतिज्ञा—वाक्य दिया है:—

पूर्वाचार्यैर्यथा प्रोक्तं दुर्गाद्येलादिभिर्यथा।
गृहीत्वा तदभिप्रायं तथा रिष्टं वदाम्यहम् ॥ ३०-१० ॥

अर्थात्–' दुर्गादि और एलादिक नामके पूर्वाचार्योंने रिष्टसंबंधमें जैसा कुछ वर्णन किया है उसके अभिप्रायको लेकर मैं वैसे ही यह रिष्टका कथन करता हूँ '। इस प्रतिज्ञावाक्यसे स्पष्ट है कि ग्रंथकर्ताने दुर्गादिक और एलादिक नामके आचार्योंको ' पूर्वाचार्य ' माना है। वे ग्रंथकर्तासे पहले होगये हैं और उन्होंने रिष्ट या अरिष्टके सम्बंधमें कोई ग्रंथ लिखे हैं जिनके आधारसे ग्रंथकर्ताने यहाँ कथनकी प्रतिज्ञा की है। ऐसी हालतमें उक्त आचार्यों और उनके ग्रंथोंकी खोज लगानेकी ज़रूरत पैदा हुई। खोज लगानेसे मालूम हुआ कि भद्रबाहु श्रुतकेवलीसे पहले इस नामके कोई भी उल्लेख योग्य आचार्य नहीं हुए। एक एलाचार्य भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यका दूसरा नाम है। दूसरे एलाचार्य चित्रकूटपुरनिवासी कहे जाते हैं जिनसे वीरसेनाचार्यने सिद्धान्तशास्त्र पढ़ा था और जिनका उल्लेख इन्द्रनन्दिने अपने ' श्रुतावतार ' ग्रंथमें किया है। तीसरे एलाचार्य भट्टारक हैं, जिनका नाम ' दि० जैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रन्थ ' नामकी सूचीमें दर्ज है, और जिनके नामके साथ उनके बनाये हुए ग्रंथोंमें सिर्फ ' ज्वालामालिनी कल्प ' नामके किसी ग्रंथका उल्लेख है। ये तीनों एलाचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवलीसे उत्तरोत्तर कई कई शताब्दी बाद हुए माने जाते हैं। इनमेंसे किसी भी आचार्यका बनाया हुआ रिष्ट-विषयका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ। ' दुर्ग ' नामके आचार्यकी खोज लगाते हुए ' जैनग्रंथावली ' से मालूम हुआ कि ' दुर्गदेव ' नामके किसी जैनाचार्यने ' रिष्टसमुच्चय ' नामका कोई ग्रंथ बनाया है और वह ग्रंथ जैनियोंके किसी भी प्रसिद्ध भंडारमें न होकर ' दक्कनकालिज पूना ' की लायब्रेरीमें मौजूद है। चूँकि यह ग्रंथ उसी विषयसे सम्बंध रखता था जिसके कथनकी प्रतिज्ञाका ऊपर उल्लेख है, इस लिए इसको मँगानेकी कोशिश की गई। अन्तको, श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने मित्र श्रीयुत मोहनलाल दलीचंदजी देसाई, वकील बम्बई हाईकोर्टकी मार्फत पूनाकी लायब्रेरीसे उक्त ग्रंथको मँगाकर उसे मेरे पास भेज देनेकी कृपा की।

देखनेसे मालूम हुआ कि ग्रंथ प्राकृत भाषामें है, उसमें २६० (२५८+२) गाथायें हैं और उसकी वह प्रति एक पुरानी और जीर्ण-शीर्ण है । बड़ी सावधानीसे संहिताके साथ उसका मिलान किया गया और मिलानसे निश्चय हुआ कि, ऊपरके प्रतिज्ञावाक्यमें जिन 'दुर्ग' नामके आचार्यका उल्लेख है वे निःसन्देह ये ही 'दुर्गदेव' हैं और इनके इसी 'रिष्टसमुच्चय' शास्त्रके आधार पर संहिताके इस प्रकरणकी प्रधानतासे रचना हुई है। वास्तवमें इस शास्त्रकी १०० से भी अधिक गाथाओंका आशय और अनुवाद इस संहितामें पाया जाता है। अनुवादमें बहुधा मूलके शब्दोंका अनुकरण है और इस लिए अनेक स्थानों पर, जहाँ छंद भी एक है, वह मूलका छायामात्र हो गया है। नमूनेके तौर पर यहाँ दोनों ग्रंथोंसे कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं जिससे इस विषयका पाठकोंको अच्छा अनुभव हो जायः—

१—करचरणेसु अ तोयं, दिन्नं परिसुसइ जस्स निब्भंतं।
सो जीवइ दियह तयं, इह कहिअं पुव्वसूरीहिं ॥ ३१ ॥ (रिष्टस०)

पाणिपादोपरि क्षिप्तं तोयं शीघ्रं विशुष्यति।
दिनत्रयं च तस्यायुः कथितं पूर्वसूरिभिः ॥ १८ ॥ (भद्र० संहिता)

२—बीआए ससिबिंबं, नियइ तिसिंगं च सिंगपरिहीणं।
उवरम्मि धूमछायं, अह खंडं सो न जीवेइ ॥ ६५ ॥ (रि० सं०)

द्वितीयायाः शशिबिंबं, पश्येत्रिशृंगं च शृंगपरिहीनं।
उपरि सधूमच्छायं, खंडं वा तस्य गतमायुः ॥ ४३ ॥ (संहिता)

३—अहव मयंकविहीणं, मलिणं चंदं च पुरिससारित्थं।
सो जीयइ मासमेगं, इय दिट्ठं पुव्वसूरीहिं ॥ ६६ ॥ (रि० सं)

अथवा मृगांकहीनं, मलिनं चंद्रं च पुरुषसादृश्यं।
प्राणी पश्यति नूनं, मासादूर्ध्वं भवान्तरं याति ॥ ४४ ॥ (संहि०)

४—इय मंतियसव्वंगो, मंती जोएउ तत्थ वर छायं।
सुहदियहे पुव्वण्हे, जलहरपवणेण परिहीणे ॥ ७१ ॥ (रि०)

इति मंत्रितसर्वांगो, मंत्री पश्यंभरस्य वरछायां ।
शुभदिवसे पूर्वाण्हे, जलधरपवनेन परिहीनं ॥ ४९ ॥(संहिता)

दुर्गदेवका यह 'रिष्टसमुच्चय' शास्त्र विक्रम संवत् १०८९ का बना हुआ है जैसा कि इसकी प्रशस्तिमें दिये हुए निम्न पद्यसे प्रगट है:—

संवत्थर इगसहसे वौलोणे नवयसीइ संजुत्ते ।
सावणसुधे यारसि दियहम्मि मूलरिक्खम्मि ॥ २५७ ॥

दुर्गदेवका समय मालूम हो जानेसे, ग्रंथमुखसे ही, यह विषय बिलकुल साफ हो जाता है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि यह भद्रबाहुसंहिता ग्रंथ भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ नहीं है, न उनके किसी शिष्य-प्रशिष्यका बनाया हुआ है और न वि० सं० १०८९ से पहलेहीका बना हुआ है। बल्कि उक्त संवत्से बादका—विक्रमकी ११ वीं शताब्दीसे पछिका—बना हुआ है और किसी ऐसे व्यक्तिद्वारा बनाया गया है जो विशेष बुद्धिमान् न हो कर साधारण मोटी अकलका आदमी था । यही वजह है कि उसे ग्रंथमें उक्त प्रतिज्ञावाक्यको रखते हुए यह खयाल नहीं आया कि मैं इस ग्रंथको भद्रबाहु श्रुतकेवलीके नामसे बना रहा हूँ—उसमें १२ सौ वर्ष पीछे होनेवाले विद्वानका नाम और उसके ग्रंथका प्रमाण न आना चाहिए। मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताने जिस प्रकार अन्य अनेक प्रकरणोंको दूसरे ग्रंथोंसे उठाकर रक्खा है उसी प्रकार यह रिष्टकथन या कालज्ञानका प्रकरण भी उसने किसी दूसरे ग्रंथसे उठाकर रक्खा है और उसे इसके उक्त प्रतिज्ञावाक्यको बदलने या निकाल देनेका स्मरण नहीं रहा । सच है 'झूठ छिपायेसे नहीं छिपता' । फारसीकी यह कहावत यहाँ बिलकुल सत्य मालूम होती है कि 'दरोग़ गोरा हाफ़ज़ा न बाशद'—अर्थात् असत्यवक्तामें धारणा और स्मरणशक्तिकी त्रुटि होती है। वह प्रायः पूर्वापरका यथेष्ट संबंध सोचे बिना मुँहसे जो आता है निकाल देता है। उसे अपना असत्य

छिपानेके लिए आगे पीछेके कथनका ठीक सम्बन्ध उपस्थित नहीं रहता—इस बातका पूरा ख़याल नहीं रहता कि मैंने अभी क्या कहा था और अब क्या कह रहा हूँ। मेरा यह कथन पहले कथनके अनुकूल है या प्रतिकूल—इस लिए वह पकड़में आ जाता है और उसका सारा झूठ खुल जाता है। ठीक यही हालत कूटलेखकों और जाली ग्रंथ बनानेवालोंकी होती है। वे भी असत्यवक्ता हैं। उन्हें भी इस प्रकारकी बातोंका पूरा ध्यान नहीं रहता और इस लिए एक न एक दिन उन्हींकी कृतिसे उनका वह सब कूट और जाल पकड़ा जाता है और सर्व साधारण पर खुल जाता है। यही सब यहाँ पर भी हुआ है। इसमें पाठकोंको कुछ आश्चर्य करनेकी जरूरत नहीं है। आश्चर्य उन विद्वानोंकी बुद्धि पर होना चाहिए जो ऐसे ग्रंथको भी भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ मान बैठे हैं। अस्तु। अब इस लेखमें आगे यह दिखलाया जायगा कि यह ग्रंथ विक्रमकी ११ वीं शताब्दीसे कितने पीछेका बना हुआ है।

६ वसुनन्दि आचार्यका बनाया हुआ 'प्रतिष्ठासारसंग्रह' नामका एक प्रसिद्ध प्रतिष्ठापाठ है। इस प्रतिष्ठापाठके दूसरे परिच्छेदमें ६२ श्लोक हैं, जिनमें 'लग्नशुद्धि' का वर्णन है और तीसरे परिच्छेदमें ८८ श्लोक हैं, जिनमें 'वास्तुशास्त्र' का निरूपण है। दूसरे परिच्छेदके श्लोकोंमेंसे लगभग ५० श्लोक और तीसरे परिच्छेदके श्लोकोंमेंसे लगभग ६० श्लोक इस ग्रंथके दूसरे खंडमें क्रमशः 'मुहूर्त' और 'वास्तु' नामके अध्यायोंमें उठाकर रक्खे गये हैं। उनमेंसे दो श्लोक नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

पुनर्वसूत्तरापुष्पहस्तश्रवणरेवती—।
रोहिण्यश्विमृगर्क्षेषु प्रतिष्ठां कारयेत्सदा ॥२७-११॥
जन्मनिष्क्रमणस्थानज्ञाननिर्वाणभूमिषु ।
अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीकूलनगेषु च ॥ ३५-४ ॥

इनमेंसे पहला श्लोक उक्त प्रतिष्ठापाठके दूसरे परिच्छेदमें नं० ५ पर और दूसरा श्लोक तीसरे परिच्छेदमें नं० ३ पर दर्ज है। इससे प्रगट

है कि यह ग्रंथ 'प्रतिष्ठासारसंग्रह' से पीछेका बना हुआ है। इस प्रतिष्ठापाठके कर्ता वसुनन्दिका समय विक्रमकी १२ वीं १३ वीं शताब्दी पाया जाता है। इसलिए यह ग्रंथ, जिसमें वसुनन्दिके वचनोंका उल्लेख हैं, वसुनन्दिसे पहलेका न होकर विक्रमकी १२वीं शताब्दीके बादका बना हुआ है।

७ पंडित आशाधर और उनके बनाये हुए 'सागारधर्मामृत' से पाठक जरूर परिचित होंगे। सागारधर्मामृत अपने टाइपका एक अलग ही ग्रंथ है। इस ग्रंथके बहुतसे पद्य संहिताके पहले खंडमें पाये जाते हैं, जिनमेंसे दो पद्य इस प्रकार हैं:—

> धर्मं यशः शर्म च सेवमानाः
> केऽप्येकशः जन्म विदुः कृतार्थम्।
> अन्ये द्विशो विद्म वयं त्वमोघा-
> न्यहानि यान्ति त्रयसेवयैव ॥ ३-२६३ ॥
> निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुरोर्मनः ॥
> प्रविश्य राजवच्छश्वद्विनयेनानुरंजयेत् ॥ १०-७२

इनमेंसे पहला पद्य सागारधर्मामृतके पहले अध्यायका १४ वाँ और दूसरा पद्य दूसरे अध्यायका ४६ वाँ पद्य है। इससे साफ जाहिर है कि यह संहिता सागारधर्मामृतके बादकी बनी हुई है। सागारधर्मामृतको पं० आशाधरजीने टीकासहित बनाकर विक्रमसंवत् १२९६ में समाप्त किया है। इसलिए यह संहिता भी उक्त संवत्के बादकी—विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पीछेकी—बनी हुई है।

८ इस ग्रंथके तीसरे खंडमें, 'फल' नामक नौवें अध्यायका वर्णन करते हुए, सबसे पहले जो श्लोक दिया है वह इस प्रकार है:—

> प्रणम्य वर्धमानं च जगदानंददायकम्।
> प्रणिधाय मनो राजन् सर्वेषां शृणु तत्फलम् ॥ १ ॥

यह श्लोक बड़ा ही विलक्षण है। इसमें लिखा है कि-'जगत्को आनंद

देनेवाले वर्धमानस्वामीको नमस्कार करके (क्या कहता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा, आगे कुछ नहीं) हे राजन् तुम उन सबका फल चित्त लगाकर सुनो।' परन्तु इससे यह मालूम न हुआ कि राजा कौन, जिसको सम्बोधन करके कहा गया और वे सब कौन, जिनका फल सुनाया जाता है। ग्रंथमें इससे पहले कोई भी ऐसा प्रकरण या प्रसंग नहीं है जिसका इस श्लोकके 'राजन्' और 'तत्' शब्दोंसे सम्बन्ध हो सके। इस लिए यह श्लोक यहाँपर बिलकुल भद्दा और निरा असम्बद्ध मालूम होता है। इसके आगे ग्रंथमें, श्लोक नं० १८ तक उन १६ स्वप्नोंके फलका वर्णन है जिनका सम्बन्ध राजा चंद्रगुप्तसे कहा जाता है और जिनका उल्लेख रत्ननन्दिने अपने 'भद्रबाहुचरित्र' में किया है। स्वप्नोंका यह सब फल-वर्णन प्रायः उन्हीं शब्दोंमें दिया है जिनमें कि वह उक्त भद्रबाहु-चरित्रके दूसरे परिच्छेदमें श्लोक नं० ३२ से ४८ तक पाया जाता है। सिर्फ किसी किसी श्लोकमें दो एक शब्दोंका अनावश्यक परिवर्तन किया गया है। जैसा कि नीचे लिखे दो नमूनोंसे प्रगट है:—

१—रवेरस्तमनालोकात्कालेऽत्र पंचमेऽशुभे।
एकादशांगपूर्वादिश्रुतं हीनत्वमेष्यति ॥ ३२ ॥

—भद्रबाहुचरित्र।

भद्रबाहुसंहिताके उक्त 'फल' नामके अध्यायमें यही श्लोक नं० ३ पर दिया है। सिर्फ '**रवेरस्तमनालोकात्**' के स्थानमें '**स्वप्ने सूर्या-स्तावलोकात्**' बदला हुआ है।

२—तुंगमातंगमासीनशाखामृगनिरीक्षणात्।
राज्यं हीना विधास्यन्ति कुकुला न च बाहुजाः ॥४३॥

भद्रबाहुसंहिताके उक्त अध्यायमें यह भद्रबाहुचरित्रका श्लोक नं० १३ पर दिया है। सिर्फ '**बाहुजाः**' के स्थानमें उसका पर्यायवाचक पद '**क्षत्रियाः**' बनाया गया है। भद्रबाहुचरित्रमें, इस फलवर्णनसे पहले, राजा चंद्रगुप्त और उसके स्वप्नादिकोंका सब संबंध देकर उसके बाद नीचे

लिखा वाक्य दिया है, जिससे वहाँ पर 'राजन्' और 'तत्' शब्दोंका सम्बंध ठीक बैठता है और उस वाक्यमें भी कोई असम्बन्द्धता मालूम नहीं होती:—

प्रणिधाय मनो राजन् समाकर्णय तत्फलम् ॥३१॥

यह वही वाक्य है जो जरासे गैरज़रूरी परिवर्तनके साथ ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोक नं० १ का उत्तरार्ध बनाया गया है । इन सब बातोंसे जाहिर है कि यह सब प्रकरण रत्ननन्दिके भद्रबाहुचरित्रसे उठाकर यहाँ रक्खा गया है और इसलिए यह ग्रंथ उक्त भद्रबाहुचरित्रसे पीछेका बना हुआ है । रत्ननन्दिका भद्रबाहुचरित्र विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके अन्तका या १७ वीं शताब्दीके शुरूका बना हुआ माना जाता है । परन्तु इसमें तो किसीको भी कोई सन्देह नहीं है कि वह वि० सं० १५२७ के बाद का बना हुआ जरूर है । क्योंकि उसके चौथे अधिकारमें इस संवत्का लुंकामत (ढूँढ़ियामत) की उत्पत्तिकथनके साथ उल्लेख किया है *। ऐसी हालतमें यंह ग्रंथ भी वि० सं० १५२७ से पीछेका बना हुआ है, इसमें कुछ संदेह नहीं हो सकता ।

९ हिन्दुओंके ज्योतिष ग्रंथोंमें 'ताजिक नीलकंठी' नामका एक प्रसिद्ध ग्रंथ है । यह अनन्तदैवज्ञके पुत्र 'नीलकंठ' नामके प्रसिद्ध विद्वानका बनाया हुआ है । इसके बहुतसे पद्य संहिताके दूसरे खंडमें—'विरोध' नामके ४३ वें अध्यायमें—कुछ परिवर्तनके साथ पाये जाते हैं । यहाँ पर उनमेंसे कुछ पद्य, उदाहरणके तौर पर, उन पद्योंके साथ प्रकाशित किये जाते हैं जिन परसे वे कुछ परिवर्तन करके बनाये गये मालूम होते हैं:—

---

* यथा:— मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते, दशपंचशतेऽब्दानामतीते शृणुता परम् ॥ १५७ ॥ लुंकामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणः । देशेऽत्रगौर्जरे ख्याते विद्वत्ताजितनिर्जरे ॥ १५८ ॥

१–क्रूरमूशरिफोऽब्देशो जन्मेशः क्रूरितः शुभैः ।
कंबूलेपि विपन्मृत्युरित्थमन्याधिकारतः ॥२-३-४ ॥

–ताजिक नीलकंठी ।

अब्देशः क्रूरमूशरिफः शुभैर्जन्मेशः क्रूरितः ।
कंबूलेपि विपन्मृत्युरित्थं वर्षेशमुन्थहे ॥ ४८ ॥

–मं०संहिता ।

२–अस्तगौ मुथहालग्ननाथौ मंदेक्षितौ यदा ।
सर्वनाशोमृतिः कष्टमाधिव्याधिभयं भवेत् ॥–५॥

—ता० नी०

यदा मंदेक्षितौ मुथहा–लग्ननाथावधो गतौ ।
सर्वनाशो मृतिः कष्टमाधिव्याधिरुजां भयं ॥ ४७ ॥

—मं० सं०

गुरुः केन्द्रे त्रिकोणे वा पापादृष्टः शुभेक्षितः ।
लग्नचन्द्रेन्थिहारिष्टं विनश्यार्थसुखं दिशेत् ॥ ४–२ ॥

—ता० नी०

पापादृष्टो गुरुः केन्द्रे त्रिकोणे वा शुभेक्षितः ।
लग्नसोमेन्थिहारिष्टं विनश्यार्थसुखं दिशेत् ॥ ५६ ॥

—मं० सं०

ऊपरके पद्योंसे पाठकोंको दो बातें मालूम होंगीं। एक यह कि नीलकंठिके पद्योंसे संहिताके पद्योंमें जो भेद है वह प्रायः नीलकंठीके शब्दोंको आगे पीछे कर देने या किसी शब्दके स्थानमें उसका पर्यायवाचक शब्द रख देने मात्रसे उत्पन्न किया गया है और इससे परिवर्तनका अच्छा अनुभव हो जाता है । इस परिवर्तनके द्वारा दूसरे पद्यके पहले चरणमें एक अक्षर बढ़ गया है–८ के स्थानमें ९ अक्षर हो गये हैं–और चौथे चरणमें 'व्याधि' के होते हुए 'रुज्' शब्द व्यर्थ पड़ा है। दूसरी बात यह है कि इन पद्योंमें मूशरिफ (मुशरिफ़), कंबूल (क़बूल), मुथहा-

मुन्थहा (मुन्तिही), इन्थिहा (इन्तिहा)ये शब्द जो पाये जाते हैं वे संस्कृत भाषाके शब्द नहीं हैं। अरबी-फारसी भाषाके परिवर्तित रूप हैं। ताजिकग्रंथोंकी उत्पत्ति यवन-ज्योतिष परसे हुई है, जिसको बहुत अधिक समय नहीं बीता, इसलिए इन शब्दोंको यवन-ज्योतिषमें प्रयुक्त संज्ञाओंके अपभ्रंशरूप समझना चाहिए। दूसरे पद्योंमें 'इत्थिसाल' (इत्तिसाल)आदि और भी इस प्रकारके अनेक शब्दोंका प्रयोग पाया जाता है । अस्तु। इन सब बातोंसे मालूम होता है कि संहितामें यह सब प्रकरण या तो नीलकंठीसे परिवर्तित करके रक्खा गया है अथवा किसी ऐसे ग्रंथसे उठाकर रक्खा गया है जो नीलकंठी परसे बना है और इस लिए यह संहिता 'ताजिक नीलकंठी' से पीछे बनी हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं रहता। नील-कंठका समय विक्रमकी १७ वीं शताब्दीका पूर्वार्ध है। उनके पुत्र गोविन्द दैवज्ञने, अपनी ३४ वर्षकी अवस्थामें, 'मुहूर्तचिन्तामणि' पर 'पीयूषधारा' नामकी एक विस्तृत टीका लिखी है और उसे शक सं० १५२५ अर्थात् वि० सं० १६६० में बनाकर समाप्त किया है। इस समयसे लगभग २० वर्ष पहलेका समय ताजिक नीलकंठीके बननेका अनुमान किया जाता है और इस लिए कहना पड़ता है कि यह संहिता विक्रम सं० १६४० के बादकी बनी हुई है।

१० इस ग्रन्थके दूसरे खंडमें, २७ वें अध्यायका प्रारंभ करते हुए सबसे पहले यह वाक्य दिया है:—

तत्रादौ च मुहूर्तानां संग्रहः क्रियते मया ॥

यद्यपि इस वाक्यमें आये हुए 'तत्रादौ'[1] शब्दोंका ग्रंथ भरमें पहलेके किसी भी कथनसे कोई सम्बंध नहीं है और इस लिए वे कथनकी असम्बद्धताको प्रगट करते हुए इस बातको सूचित करते हैं कि यह

[1] इसका अर्थ होता है-वहाँ,आदिमें, उसके आदिमें, अथवा उनमें सबसे पहले।

वाक्य किसी दूसरे ग्रन्थसे उठाकर रक्खा गया है जहाँ उसे उक्त ग्रंथके कर्ताने अपने प्रकरणानुसार दिया होगा। परन्तु इसे छोड़कर इस वाक्यमें मुहूर्तोंका संग्रह करनेकी प्रतिज्ञा की गई है। लिखा है कि मेरे द्वारा मुहूर्तोंका संग्रह किया जाता है, अर्थात् मैं इस अध्यायमें मुहूर्तोंका संग्रह करता हूँ। यह वाक्य श्रुतकेवलीका बतलाया जाता है। ऐसी हालतमें पाठक सोचें और समझें कि यह कैसा अनोखा और असमंजस मालूम होता है। श्रुतकेवली और मुहूर्तोंका संग्रह करें ? जो स्वयं द्वादशांगके पाठी और पूर्ण ज्ञानी हों–जिनका प्रत्येक वाक्य संग्रह किये जानेके योग्य हो–वे खुद ही इधर उधरसे मुहूर्तोंके कथनको इकट्ठा करते फिरें ! यह कभी नहीं हो सकता। **वास्तवमें यह सारा ही ग्रंथ भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनायाहुआ न होकर इधर उधरके प्रकरणोंका एक बेढंगा संग्रह है**–जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है और अगले लेखोंमें,असम्बद्ध विरुद्धादि कथनोंका उल्लेख करते हुए और भी अच्छी तरहसे दिखलाया जायगा। इस लिए इस ग्रंथमें उक्त प्रतिज्ञाके अनुसार मुहूर्तोंका भी अनेक ग्रंथों परसे संग्रह किया गया है। अर्थात् दूसरे ग्रंथोंके वाक्योंको उठा उठाकर रक्खा है। उन ग्रंथोंमें 'मुहूर्तचिन्तामणि' नामका भी एक प्रसिद्ध ग्रंथ है, जिसे नीलकंठके छोटे भाई रामदैवज्ञने शक संवत् १५२२ (वि० सं० १६५७) में निर्माण किया है +। इस ग्रंथसे भी अनेक पद्य उठाकर उक्त अध्यायमें रक्खे गये हैं, जिनमेंसे एक पद्य, उदाहरणके तौरपर, यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

+ यथा:—तदात्मज उदारधीर्विबुधनीलकंठानुजो, गणेशपदपंकजं हृदि निधाय रामाभिधः। गिरीशनगरे वरे भुजभुजेषुचंद्रैर्मिते (१५२२), शके विनिरमादिमं मुहूर्तचिन्तमणिम् ॥ १४–३ ॥

क्षिप्रध्रुवाहिचरमूलमृदुत्रिपूर्वा,
रौद्रेऽर्कविद्गुरुसितेन्दुदिने व्रतं सत्।
द्वित्रीषुरुद्ररविदिक् प्रमिते तिथौ च,
कृष्णादिमत्रिलवकेपि न चापराह्णे ॥ १७२ ॥

यह पद्य मुहूर्तचिन्तामणिके पाँचवें संस्कार-प्रकरणका ४० वाँ पद्य है। इससे साफ़ जाहिर है कि यह संहिता ग्रंथ मुहूर्तचिन्तामणिसे बादका अर्थात् वि०सं०१६५७से पीछेका बना हुआ है।

यहाँतकके इस संपूर्ण कथनसे यह तो सिद्ध हो गया कि,—यह **खंडत्रयात्मक ग्रंथ (भद्रबाहुसंहिता) भद्रबाहु श्रुतकवलीका बनाया हुआ नहीं है, न उनके किसी शिष्यप्रशिष्यका बनाया हुआ है और न वि० सं० १६५७ से पहलेहीका बना हुआ है; बल्कि उक्त संवत्से पीछेका बना हुआ है।** परन्तु कितने पीछेका बना हुआ है और किसने बनाया है, इतना सवाल अभी और बाकी रह गया है।

भद्रबाहुसंहिताकी वह प्रति जो झालरापाटनके भंडारसे निकली है और जिसका ग्रंथ-प्राप्तिके इतिहासमें ऊपर उल्लेख किया गया है वि० सं० १६६५ की लिखी हुई है। इससे स्पष्ट है कि, यह ग्रंथ वि० सं० १६६५ से पहले बन चुका था और वि० सं० १६५७ से पीछेका बनना उसका ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। इस लिए **यह ग्रन्थ इन दोनों सम्वतों (१६५७-१६६५) के मध्यवर्ती किसी समयमें—सात आठ वर्षके भीतर बना है,** इस कहनेमें कोई संकोच नहीं होता। यही इस ग्रंथके अवतारका समय है। अब रही यह बात कि, ग्रंथ किसने बनाया, इसके लिए झालरापाटनकी उक्त प्रतिके अन्तमें दी हुई लेखककी इस प्रशस्तिको गौरसे पढ़नेकी जरूरत है:—

" संवत्सर १६६५ का मृगसिर सुदि १० लिपीकृतं ज्ञानभूषणेन गोपाचलपुस्तकभंडार धर्मभूषणजीकी सुं लिपी। या पुस्तक दे जीनैं जिनधर्मका शपथ

हजार छै। मुनिपरंपरा सूं विमुख छै। तीसूं न देणी। सूरि भी नहीं देवै । एक वार धर्मभूषण स्वामी दो चार स्थल मांगे दिये सो फेरि पुस्तक नहीं आई। तदि वामदेवजी फेर शुद्धकरि लिषी तयार करी। तीसूं नहीं देणी।"

ऊपरकी इस प्रशस्तिसे, जो कि ग्रंथ बननेके अधिक समय बादकी नहीं है, साफ ध्वनित होता है कि यह ग्रंथ गोपाचल (ग्वालियर) के भट्टारक **धर्मभूषणजीकी** कृपाका एक मात्र फल है। वही उस समय इस ग्रंथके सर्व सत्वाधिकारी थे। उन्होंने **वामदेव** सरीखे अपने किसी कृपापात्र या आत्मीयजनके द्वारा इसे तय्यार कराया है, अथवा उसकी सहायतासे स्वयं तय्यार किया है । तय्यार हो जानेपर जब इस ग्रंथके दो चार अध्याय किसीको पढ़नेके लिए दिये गये और वे किसी कारणसे वापिस नहीं मिलसके तब वामदेवजीको फिरसे दुबारा उनके लिए परिश्रम करना पड़ा। जिसके लिए प्रशस्तिका यह वाक्य 'तादि वामदेवजी फेर शुद्ध करि लिषी तयार करी—' खास तौरसे ध्यान दिये जानेके योग्य है और इस बातको सूचित करता है कि उक्त अध्यायोंको पहले भी वामदेवने ही तय्यार किया था। मालूम होता है कि लेखक **ज्ञानभूषणजी** धर्मभूषण भट्टारकके परिचित व्यक्तियोंमें थे और आश्चर्य नहीं कि वे उनके शिष्योंमें भी हों। उनके द्वारा खास तौरसे यह प्रति लिखाई गई है। उन्होंने प्रशस्तिमें अपने स्वामी धर्मभूषणकी ग्रंथ न देने संबंधी आज्ञाका—जो संभवतः उक्त अध्यायोंके वापिस न आने पर दी गई होगी—उल्लेख करते हुए भोलेपनसे उसके कारणका भी उल्लेख कर दिया है, जिसकी वजहसे ग्रंथकर्ताके विषयमें उपर्युक्त विचारोंको स्थिर करनेका अवसर मिला है और इसी लिए पाठकोंको उनके इस भोलेपनका आभारा होना चाहिए। ता० २९-९-६१।

दूसरा लेख।

इस ग्रंथके साहित्यकी जाँचसे मालूम होता है कि जिस किसी व्यक्तिने इस ग्रंथकी रचना की है वह निःसन्देह अपने घरकी अकल बहुत कम रखता था और उसे ग्रंथका सम्पादन करना नहीं आता था। साथ ही, जाली ग्रंथ बनानेके कारण उसका आशय भी शुद्ध नहीं था। यही वजह है कि उससे, ग्रंथकी स्वतंत्र रचनाका होना तो दूर रहा, इधर उधरसे उठाकर रक्खे हुए प्रकरणोंका संकलन भी ठीक तौरसे नहीं होसका और इसलिए उसका यह ग्रंथ इधरउधरके प्रकरणोंका एक बेढगा संग्रह बन गया है। आगे इन्हीं सब बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है। इससे पाठकों पर ग्रंथका जालीपन और भी अधिकताके साथ खुल जायगा और साथ ही उन्हें इस बातका पूरा अनुभव हो जायगा कि ग्रंथकर्ता महाशय कितनी योग्यता रखते थे:—

(१) इस ग्रंथके तीसरे खंडमें तीन अध्याय—चौथा, पाँचवाँ, और सातवाँ—ऐसे हैं जिनका मूल प्राकृत भाषामें है और अर्थ संस्कृतमें दिया है। चूँकि इस संहिता पर किसी दूसरे विद्वानकी कोई टीका या टिप्पणी नहीं है इस लिए उक्त अर्थ उसी दृष्टिसे देखा जाता है; जिस दृष्टिसे कि शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ। अर्थात् वह ग्रंथकर्ता भद्रबाहुका ही बनाया हुआ समझा जाता है; परन्तु ग्रंथकर्ताको ऐसा करनेकी जरूरत क्यों पैदा हुई, यह कुछ समझमें नहीं आता। इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि प्राकृत होनेकी वजहसे ऐसा किया गया तो यह कोई समुचित उत्तर नहीं

हो सकता। क्योंकि प्रथम तो ऐसी हालतमें 'जब कि यह सारा ग्रंथ संस्कृतमें रचा गया है, इन अध्यायोंको प्राकृतमें रचकर ग्रंथकर्ताका डबल परिश्रम करना ही व्यर्थ मालूम होता है। दूसरे, बहुतसे ऐसे प्राकृत ग्रंथ भी देखनेमें आते हैं जिनके साथ उनका संस्कृत अर्थ लगाहुआ नहीं है। और न भद्रबाहुके समयमें, जब कि प्राकृत भाषा अधिक प्रचलित थी, प्राकृत ग्रंथोंके साथ उनका संस्कृत अर्थ लगानेकी कोई जरूरत थी। तीसरे इस खंडके तीसरे अध्यायमें 'उवसग्गहर' और 'तिजयपहुत्त' नामके दो स्तोत्र प्राकृत भाषामें दिये हैं, जिनके साथमें उनका संस्कृत अर्थ नहीं है। चौथे, पहले खंडके पहले अध्यायमें कुछ संस्कृतके श्लोक भी ऐसे पाये जाते हैं जिनके साथ संस्कृतमें ही उनकी टीका अथवा टिप्पणी लगी हुई है। ऐसी हालतमें प्राकृतकी वजहसे संस्कृत अर्थका दिया जाना कोई अर्थ नहीं रखता। यदि कठिनता और सुगमताकी दृष्टिसे ऐसा कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं बन सकता। क्योंकि इस दृष्टिसे उक्त चारों ही अध्यायोंकी प्राकृतमें कोई विशेष भेद नहीं है। रही संस्कृत श्लोकोंकी बात, सो वे इतने सुगम हैं कि उनपर टीका-टिप्पणीका करना ही व्यर्थ है। नमूनेके तौरपर यहाँ दो श्लोक टीका-टिप्पणीसहित उद्धृत किये जाते हैं:—

१—पात्रान्संतर्प्य दानेन भक्त्या भुंजेत्स्वयं पुनः।
भोगभूमिकरः स्वर्गप्राप्तेरुत्तमकारणम् ॥ ८० ॥

टीका—पात्रानिति बहुवचनं मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका इति चतुर्विधपात्रप्रीत्यर्थं। एतेष्वन्यतमं पूर्वमाहारादिदानेन संतर्प्य पुनः स्वयं भुजेत्। पात्रदानं च भोगभूमिस्वर्गप्राप्तेरुत्तमकारणं ज्ञेयमित्यर्थः।

१-२ ये दोनों स्तोत्र श्वेताम्बरोंके 'प्रतिक्रमणसूत्र' में भी पाये जाते हैं, परन्तु यहाँ पर उक्त प्रतिक्रमण सूत्रसे पहले स्तोत्रमें तीन और दूसरेमें एक, ऐसी चार गाथायें अधिक हैं।

२–कांस्यपात्रे न भोक्तव्यमन्योन्यवर्णजैः कदा ।
शूद्रस्त्वपक्कं पक्वं वा न भुंजेदन्यपंक्तिषु ॥ ८४ ॥

टिप्पणी–पंक्तिषु इति बहुवचनाद्वर्णत्रयपंक्तावेव पक्कमपक्वं वा न भुंजेत् इत्यर्थः।

इससे पाठक समझ सकते हैं कि श्लोक कितने सुगम हैं, और उनकी टीका-टिप्पणीमें क्या विशेषता की गई है। साथ ही मुकाबलेके लिए इससे पहले लेखमें और इस लेखके अगले भागमें उद्धृत किये हुए बहुतसे कठिनसे कठिन श्लोकोंको भी देख सकते हैं जिन पर कोई टीका-टिप्पण नहीं है। और फिर उससे नतीजा निकाल सकते हैं कि कहाँ तक ऐसे श्लोकोंकी ऐसी टीका–टिप्पणी करना श्रुतकेवली जैसे विद्वानोंका काम होसकता ह। सच तो यह है कि यह सब मूल और टीका-टिप्पणियाँ भिन्नभिन्न व्यक्तियोंका कार्य मालूम होता है। मूलकर्ताओंसे टीकाकार भिन्न जान पड़ते हैं। सबका ढंग और कथनशैली प्रायः अलग है। चौथे और सातवें अध्यायोंकी टीकामें बहुतसे स्थानों पर, '**इत्यपि पाठः**'–ऐसा भी पाठ है–यह लिखकर, मूलका दूसरा पाठ भी दिया हुआ है, जो मूलका उल्लेख योग्य पाठ-भेद होजानेके बाद टीकाके बननेको सूचित करता है। यथाः—

१–'**वाहिमरणं** (व्याधिमरणं)'–'**रायमरणं** (राजमरणं) इत्यपि पाठः' ॥ ४–३० ॥

२–'**मेहंतर** (मेघान्तर–)'–'**हेमंतर** (हेमान्तर–) इत्यपि पाठः' ॥ ४–३१ ॥

३–'**अण्णेणावि** (अन्येनापि)–'**अण्णोण्णवि** (अन्योन्यमपि-परस्परमपि) इत्यपि पाठः' ॥ ७–२१ ॥

इससे मूलकर्ता और टीकाकारकी साफ तौरसे विभिन्नता पाई जाती है। साथ ही, इन सब बातोंसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्रंथकर्ता इन दोनोंसे भिन्न कोई तीसरा ही व्यक्ति है। उसे संभवतः ये सब प्रकरण इसी रूपमें (टीकाटिप्पणीसहित या रहित) कहींसे प्राप्त हुए हैं और उसने उन्हें वहाँसे उठाकर विना सोचे समझे यहाँ जोड़ दिया है।

(२) हिन्दुओंके यहाँ ज्योतिषियोंमें 'वराहमिहिर' नामके एक प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य हो गये हैं। उनके बनाये हुए ग्रंथोंमें 'बृहत्संहिता' नामका एक खास ग्रंथ है, जिसको लोग 'वाराहीसंहिता' भी कहते हैं। इस ग्रंथका उल्लेख विक्रमकी ११ वीं शताब्दिमें होनेवाले 'सोमदेव' नामके दिगम्बर जैनाचार्यने भी अपने 'यशस्तिलक' ग्रंथमें किया है। साथ ही 'जैनतत्वादर्श' आदि श्वेताम्बर ग्रंथोंमें भी इसका उल्लेख पाया जाता है। इस तरह पर दोनों संप्रदायोंके विद्वानों द्वारा यह हिन्दुओंका एक ज्योतिष ग्रंथ माना जाता है। परन्तु पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस बृहत्संहिताके अध्यायके अध्याय भद्रबाहुसंहितामें नकल किये गये हैं—ज्योंके त्यों या कहीं कहीं कुछ भद्दे और अनावश्यक परिवर्तनके साथ उठाकर रक्खे गये हैं—परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वराहमिहिर या उनके इस ग्रंथका कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया। प्रत्युत, वराहमिहिरके इन सब वचनोंको भद्रबाहुके वचन प्रगट किया गया है और इस तरह पर एक अजैन विद्वानके ज्योतिषकथनको जैन ज्योतिषका ही नहीं बल्कि जैनियोंके केवलीका कथन बतलाकर सर्व साधारणको धोखा दिया गया है। इस नीचता और धृष्टताके कार्यका पाठक जो चाहे नाम रख सकते हैं और उसके उपलक्षमें ग्रंथकर्ताको चाहे जिस पदवीसे विभूषित कर सकते हैं, मुझे इस विषयमें कुछ कहनेकी जरूरत नहीं है। मैं सिर्फ यहाँ पर ग्रंथकर्ताके इस कृत्यका पूरा परिचय दे देना ही काफी समझता हूँ और वह परिचय इस प्रकार है:—

(क) भद्रबाहुसंहिताके दूसरे खंडमें 'करण' नामका २९ वाँ अध्याय है, जिसमें कुल ९ पद्य हैं। इनमेंसे शुरूके ६ पद्य बृहत्संहिताके 'तिथि और करण' नामके ९९ वें अध्यायसे, जिसमें सिर्फ ८ पद्य हैं और पहले दो पद्य केवल 'तिथि' से सम्बंध रखते

हैं, ज्योंके त्यों (उसी क्रमसे) उठाकर रक्खे गये हैं । सिर्फ पहले पद्यमें कुछ अनावश्यक उलट फेर किया है । बृहत्संहिताका वह पद्य इस प्रकार है:—

यत्कार्यं नक्षत्रे तद्दैवत्यासु तिथिषु तत्कार्यं ।
करणमुहूर्त्तेष्वपि तत्सिद्धिकरं देवतासदृशम् ॥ ३ ॥

भद्रबाहुसंहितामें इसके पूर्वार्धको उत्तरार्ध और उत्तरार्धको पूर्वार्ध बना दिया है । इससे अर्थमें कोई हेर फेर नहीं हुआ । इन छहों पद्यों-के बाद भद्रबाहुसंहितामें सातवाँ पद्य इस प्रकार दिया है:—

लाभे तृतीये च शुभैः समेते, पापैर्विहीने शुभराशिलग्ने ।
वेध्यौ तु कर्णौ त्रिदशेज्यलग्ने* तिष्येन्दुचित्राहरिरेवतीषु ॥

यह पद्य बृहत्संहिताके 'नक्षत्र' नामके ९८ वें अध्यायसे उठाकर रक्खा गया है, जहाँ इसका नम्बर १७ है । यहाँ 'करण' के अध्यायसे इसका कोई सम्बंध नहीं है । इसके बादके दोनों पद्य (नं० ८–९) भी इस करण-विषयक अध्यायसे कोई संबंध नहीं रखते । वे बृहत्संहिताके अगले अध्याय नं० १०० से उठा कर रक्खे गये हैं, जिसका नाम है 'विवाह-नक्षत्रलग्ननिर्णय' और जिसमें सिर्फ ये ही दो पद्य हैं । इन पद्योंमेंसे एक पद्य नमूनेके तौर पर इस प्रकार है:—

रोहिण्युत्तररेवतीमृगशिरोमूलानुराधामघा-
हस्तस्वातिषु षष्ठ तौलिमिथुनेषूद्यत्सु, पाणिग्रहः ।
सप्ताष्टान्त्यबहिः शुभैरुडुपतावेकादशद्वित्रिगे,
क्रूरैस्त्र्यायषडष्टगैर्न तु भृगौ षष्ठे कुजे चाष्टमे ॥ ८ ॥

(ख) बृहत्संहितामें 'वस्त्रच्छेद' नामका ७१ वाँ अध्याय है, जिसमें १४ श्लोक हैं । इनमेंसे श्लोक नं० १३ को छोड़कर बाकी सब श्लोक भद्रबाहुसंहिताके 'निमित्त' नामक ३० वें अध्यायमें नं० १८३ से १९५ तक नकल किये गये हैं । परन्तु इस नकल करनेमें एक

---

* भद्रबाहुसंहितामें 'त्रिदशेज्य' की जगह 'अमरेज्य' बनाया है ।

तमाशा किया है, और वह यह है कि अन्तिम श्लोक नं० १४ को तो अन्तमें ही उसके स्थान पर (नं० १९५ पर) रक्खा है। बाकी श्लोकोंमेंसे पहले पाँच श्लोकोंका एक और उसके बादके सात श्लोकोंका दूसरा ऐसे दो विभाग करके दूसरे विभागको पहले और पहले विभागको पीछे नकल किया है। ऐसा करनेसे श्लोकोंके क्रममें कुछ गड़बड़ी हो गई है। अन्तिम श्लोक नं० १९५, जो नूतन वस्त्रधारणका विधान करनेवाले दूसरे विभागके श्लोकोंसे सम्बंध रखता था, पहले विभागके श्लोकोंके अन्तमें रक्खे जानेसे बहुत खटकने लगा है और असम्बद्ध मालूम होता है। इसके सिवाय अन्तिम श्लोक और पहले विभागके चौथे श्लोकमें कुछ थोड़ासा परिवर्तन भी पाया जाता है। उदाहरणके तौरपर यहाँ इस प्रकरणके दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं:—

> वस्त्रस्य कोणेषु वसन्ति देवा नराश्च पाशान्तदशान्तमध्ये।
> शेषास्त्रयश्चात्र निशाचरांशास्तथैव शय्यासनपादुकासु॥ १॥
> भोक्तुं नवाम्बरं शस्तमृक्षेऽपि गुणवर्जिते।
> विवाहे राजसम्माने ब्राह्मणानां च सम्मते॥ १४॥

भद्रबाहुसंहितामें पहला श्लोक ज्योंका त्यों नं० १९० पर दर्ज है और दूसरे श्लोकमें, जो अन्तिम श्लोक है, सिर्फ ' ब्राह्मणानां च सम्मते ' के स्थानमें ' प्रतिष्ठामुनिदर्शने ' यह पद बनाया गया है।

(ग) वराहमिहिरने अपनी बृहत्संहितामें अध्याय नं० ८६ से लेकर ९६ तक ११ अध्यायोंमें ' शकुन ' का वर्णन किया है। इन अध्यायोंके पद्योंकी संख्या कुल ३१९ है। इसके सिवाय अध्याय नं० ८९ के शुरूमें कुछ थोड़ासा गद्य भी दिया है। गद्यको छोड़कर इन पद्योंमेंसे ३०१ पद्य भद्रबाहुसंहिताके ' शकुन ' नामके ३१ वें अध्यायमें उठाकर रक्खे गये हैं और उन पर नम्बर भी उसी (प्रत्येक अध्यायके अलग अलग) क्रमसे डाले गये हैं जिस प्रकार कि वे उक्त बृहत्संहितामें पाये जाते हैं। बाकीके १८ पद्योंमेंसे कुछ पद्य छूट गये और कुछ छोड़ दिये गये मालूम

होते हैं। इस तरह पर ये ग्यारहके ग्यारह अध्याय भद्रबाहुसंहितामें नकल किये गये हैं और उनका एक अध्याय बनाया गया है। इतने अधिक श्लोकोंकी नकलमें सिर्फ आठ दस पद्य ही ऐसे हैं जिनमें कुछ परिवर्तन पाया जाता है। बाकी सब पद्य ज्योंके त्यों नकल किये गये हैं। अस्तु। यहाँ पाठकोंके संतोषार्थ और उन्हें इस नकलका अच्छा ज्ञान करानेके लिए कुछ परिवर्तित और अपरिवर्तित दोनों प्रकारके पद्य नमूनेके तौर पर उद्धृत किये जाते हैं:—

१—यानरभिक्षुश्रवणावलोकनं नैर्ऋतात्तृतीयांशे।
फल्कुसुमदन्तघटितागमश्च कोणाच्चतुर्थांशे ॥२–८॥

इस पद्यमें नैर्ऋत कोणके सिर्फ तृतीय और चतुर्थ अंशोंहीका कथन है। इससे पहले दो अंशोंका कथन और होना चाहिए जो भद्रबाहुसंहितामें नहीं है। इसलिए यह कथन अधूरा है। बृहत्संहिताके ८७ वें अध्यायमें इससे पहलेके एक पद्यमें वह कथन दिया है और इसलिए इस पद्यको नं० ९ पर रक्खा है। इससे स्पष्ट है कि वह पद्य यहाँ पर छूटगया है।

२—अयाक्प्रदाने विहितार्थसिद्धिः पूर्वोक्तदिक्चक्रफलैरथान्यत्।
वाच्यं फलं चोत्तममध्यनीचशाखास्थितायां वरमध्यनीचम् ॥ ३–३९ ॥

बृहत्संहितामें, जिसमें इस पद्यका नं० ४६ है, इस पद्यसे पहले सात पद्य और दिये हैं जो भद्रबाहुसंहितामें नहीं हैं और उनमें पिंगला जानवरसे शकुन लेनेका विधान किया है। लिखा है कि,—‘संध्याके समय पिंगलाके निवास-वृक्षके पास जाकर ब्रह्मादिक देवताओंकी और उस वृक्षकी नये वस्त्रों तथा सुगंधित द्रव्योंसे पूजा करे। फिर अकेला अर्धरात्रिके समय उस वृक्षके अग्निकोणमें खड़ा होकर तथा पिंगलाको अनेक प्रकारकी शपथें (कसमें) देकर पद्य नं० ४२।४३।४४ में दिया हुआ मंत्र ऐसे स्वरसे पढ़े जिसे पिंगला सुन सके और उसके साथ पिंगलासे अपना मनोरथ पूछे। ऐसा कहने पर वृक्ष पर बैठी हुई वह पिंगला यदि

कुछ शब्द करे तो उसके फलका विचार पद्य नं० ४५ में* दिया है और उसके कुछ शब्द न करने आदिका विचार इस ऊपर उद्धृत किये हुए पद्यमें बतलाया है। इससे इस पद्यका साफ़ सम्बन्ध उक्त सात पद्योंसे पाया जाता है। मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताको इसका कुछ भी स्मरण नहीं रहा और उसने उक्त सात पद्योंको छोड़कर इस पद्यको यहाँ पर असम्बद्ध बना दिया है।

> ३– राजा कुमारो नेता च दूतः श्रेष्ठी चरो द्विजः।
> गजाध्यक्षश्च पूर्वाद्याः क्षत्रियाद्याश्चतुर्दिशम्॥ ५-४॥

यह पद्य यहाँ 'शिवारुत' प्रकरणमें बिलकुल ही असम्बद्ध मालूम होता है। इसका यहाँ कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता। एक बार इसका अवतरण इसी ३१ वें अध्यायके शुरूमें नं० २८ पर हो चुका है और बृहत्संहिताके ८६ वें अध्यायमें यह नं० ३४ पर दर्ज है। नहीं मालूम इसे फिरसे यहाँ रखकर ग्रंथकर्ताने क्या लाभ निकाला है। अस्तु। इसके बदलेमें इस प्रकरणका 'शान्ता...' इत्यादि पद्य नं० १३ ग्रंथकर्तासे छूट गया है और इस तरहपर लेखा बराबर हो गया–प्रकरणके १४ पद्योंकी संख्या ज्योंकी त्यों बनी रही।

> ४– क्रूरः षष्ठे क्रूरदृष्टो विलग्नाद्यस्मिन्राशौ तद्गृहांगे व्रणः स्यात्।
> एवं प्रोक्तं यन्मया जन्मकाले चिह्नं रूपं तत्तदस्मिन्विचिन्त्यं॥ ११–१३॥

इस पद्यके उत्तरार्धमें लिखा है कि 'इसी प्रकारसे जन्मकालीन चिह्नों और फलोंका जो कुछ वर्णन मैंने किया है उन सबका यहाँ भी विचार करना चाहिए।' वराहमिहिरने 'बृहज्जातक' नामका भी एक ग्रन्थ बनाया है जिसमें जन्मकालीन चिह्नों और उनके फलोंका वर्णन है। इससे उक्त कथनके द्वारा वराहमिहिरने अपने उस ग्रंथका उल्लेख किया मालूम होता

---

* यथाः—"इत्येवमुक्ते तदूर्ध्वगायाश्चिरिल्विरिल्वीतिरुतेऽर्थसिद्धिः।
अत्याकुलत्वं दिशिकारशब्दे कुचाकुचेत्येवमुदाहृते वा॥ ४५॥

है। ग्रंथकर्ताने उसे विना सोचे समझे यहाँ ज्योंका त्यों रख दिया है। भद्रबाहुसंहितामें इस प्रकारका कोई कथन नहीं जिससे इसका सम्बंध लगाया जाय।

५-ओनाः प्रदक्षिणं शस्ता मृगः सनकुलाण्डजाः।
चाषः सनकुलो वामो भृगुराहापराह्नतः॥ १-३७॥

यह बृहत्संहिता (अ० ८६) का ४३ वाँ पद्य है। इसमें 'भृगु' जीका नाम उनके वचन सहित दिया है। भद्रबाहुसंहितामें इसे ज्योंका त्यों रक्खा है। बदला नहीं है। संभव है कि यह पद्य परिवर्तनसे छूट गया हो। अब आगे परिवर्तित पद्योंके दो नमूने दिखलाये जाते हैं:—

६-श्रेष्ठो हयः सितः प्राच्यां शवमांसे च दक्षिणे।
कन्यका दधिनी पश्चादुदग्साधुजिनादयः॥१-४०॥

बृहत्संहितामें इस पद्यका पहला चरण 'श्रेष्ठे हयसिते प्राच्यां' और चौथा चरण 'उदग्गो विप्रसाधवः' दिया है। बाकी दोनों चरण ज्योंके त्यों हैं। इससे भद्रबाहुसंहितामें इस पद्यके इन्हीं दो चरणोंमें तबदीली पाई जाती है। पहले चरणकी तबदीली साधारण है और उससे कोई अर्थभेद नहीं हुआ। रही चौथे चरणकी तबदीली, उसमें 'गोविप्र' (गोब्राह्मण) की जगह 'जिनादि' बनाया गया है और उससे यह सूचित किया है कि यात्राके समय उत्तरदिशामें यदि साधु और जिनादिक होवें तो श्रेष्ठ फल होता है। परन्तु इस तबदीलीसे यह मालूम न हुआ कि इसे करके ग्रंथकर्ताने कौनसी बुद्धिमत्ताका कार्य किया है। क्या 'साधु' शब्दमें 'जिन' का और 'जिनादि' शब्दोंमें 'साधु' का समावेश नहीं होता था? यदि होता था तो फिर साधु और जिनादि ये दो शब्द अलग अलग क्यों रक्खे गये? साथ ही, जिस गौ और ब्राह्मणके नामको उड़ाया गया है उसको यदि कोई 'आदि' शब्दसे ग्रहण कर ले तो उसका ग्रंथकर्ताने इस श्लोकमें क्या प्रतीकार रक्खा है?

उत्तर इन सब बातोंका कुछ नहीं हो सकता। इसलिए ग्रंथकर्ताका यह सब परिवर्तन निरा भूलभरा और मूर्खताको द्योतक है।

७–धीवरशाकुनिकानां सप्तमभागे भयं भवति दीप्ते।
भोजनविघातउक्तो निधनभयं च तत्परतः॥२-३३॥

इस पद्यमें सिर्फ '**निर्ग्रन्थभयं**' के स्थानमें '**निधनभयं**' बनाया गया है और इसका अभिप्राय शायद ऐसा मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताको 'निर्ग्रंथ' शब्द खटका है। उसने इसका अर्थ दिगम्बर मुनि या जैन-साधु समझा है और जैनसाधुओंसे किसीको भय नहीं होता, इस लिए उसके स्थानमें 'निधन' शब्द बनाया गया है। परन्तु वास्तवमें निर्ग्रंथका अर्थ दिगम्बर मुनि या जैनसाधु ही नहीं है बल्कि 'निर्धन' और 'मूर्ख' भी उसका अर्थ है × और यहाँ पर वह ऐसे ही अर्थमें व्यवहृत हुआ है। अस्तु ग्रंथकर्ताका इस परिवर्तनसे कुछ ही अभिप्राय हो, परन्तु छंदकी दृष्टिसे उसका यह परिवर्तन ठीक नहीं हुआ। ऐसा करनेसे इस आर्या छंदके चौथे चरणमें दो मात्रायें कम हो गई हैं–१५ के स्थानमें १३ ही मात्रायें रह गई हैं।

यहाँ पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि वराहमिहिर आचार्यने तो अपना यह संपूर्ण शकुनसम्बंधी वर्णन अनेक वैदिक ऋषियों तथा विद्वानोंके आधारपर–अनेक ग्रंथोंका आशय लेकर–लिखा है और उसकी सूचना उक्त वर्णनके शुरूमें लगा दी है। परन्तु भद्रबाहुसंहिताके कर्ता इतने कृतज्ञ थे कि उन्होंने जिस विद्वानके शब्दोंकी इतनी अधिक नकल कर डाली है उसका आभार तक नहीं माना। प्रत्युत अध्यायके शुरूमें मंगलाचरणके बाद यह लिखकर कि 'श्रेणिकके प्रश्नानुसार गौतमने शुभ अशुभ शकुनका जो कुछ कथन किया है वह (यहाँ मेरे द्वारा)

+ यथाः–'निर्ग्रंथः क्षपणेऽधने बालिशेऽपि।' इति श्रीधरसेनः॥ 'निर्ग्रंथो निस्वमूर्खयोः श्रमणे च।' इति हेमचन्द्रः॥

विशेषरूपसे निरूपण किया गया है * ' इस संपूर्ण कथनको जैनका ही नहीं बल्कि जैनियोंके केवलीका बना डाला है ! पाठक सोचें और विचार करें, इसमें कितना अधिक धोखा दिया गया है।

(५) भद्रबाहुसंहितामें, शकुनाध्यायके बाद, 'पाक' नामका ३२ वाँ अध्याय है, जिसमें १७ पद्य हैं। यह पूरा अध्याय भी बृहत्संहितासे नकल किया गया है। बृहत्संहितामें इसका नं० ९७ है और पद्योंकी संख्या वही १७ की है। इन पद्योंमेंसे ८ पद्योंकी नकल भद्रबाहुसंहितामें ज्योंकी त्यों पाई जाती है। बाकीके पद्य कुछ परिवर्तनके साथ उठाकर रक्खे गये हैं; परिवर्तन आम तौर पर शब्दोंको प्रायः आगे पीछे कर देने या किसी किसी शब्दके स्थानमें उसका पर्यायवाचक शब्द रखदेने मात्रसे उत्पन्न किया गया है। उदाहरणके तौर पर आदि अन्तके दो पद्य उन पद्योंके साथ नीचे प्रकाशित किये जाते हैं जिनसे वे कुछ परिवर्तन करके बनाये गये हैं:—

पक्षाद्भानोः सोमस्य मासिकोऽङ्गारकस्य वक्रोक्तः ।
आदर्शनाच्च पाको बुधस्य जीवस्य वर्षेण ॥ १ ॥(—बृहत्संहिता ।)

पाकः पक्षाद्भानोः सोमस्य च मासिकः कुजस्य वक्रोक्तः ।
आदर्शनाच्च पाको बुधस्य गुरोश्च वर्षेण ॥ १ ॥ (—भद्रबाहुसंहिता ।)

ऊपरके इस पद्यका भद्रबाहुसंहितामें जो परिवर्तन किया गया है उससे अर्थमें कोई भेद नहीं हुआ। हाँ इतना जरूर हुआ है कि आर्या छंदके दूसरे चरणमें १८ मात्राओंके स्थानमें २१ मात्रायें होगई हैं और एककी जगह दो 'पाक' शब्दोंका प्रयोग व्यर्थ हुआ है। यदि शुरूके 'पाकः' पदको किसी तरह निकाल भी दिया जाय तो भी छंद ठीक नहीं बैठता। उस वक्त दूसरे चरणमें १७ मात्रायें रह जाती हैं। इसलिए

---

* श्रेणिकेन यथा पृष्टं तथा गौतमभाषितम् ।
शुभाशुभं च शकुनं विशेषेण निरूपितम् ॥ २ ॥

ग्रंथकर्ताने यह परिवर्तन करके कोई बुद्धिमानीका काम नहीं किया।

२–निगदितसमये न दृश्यते चेदधिकतरं द्विगुणे प्रपच्यते तत्।
यदि न कनकरत्नगोप्रदानैरुपशमितं विधिवद्द्विजैश्च शान्त्या ॥१७॥–बृहत्संहिता।
निगदितसमये न दृश्यते चेद् अधिक (तरं) द्विगुणे विपच्यते तत्।
यदि न जिनवचो गुरूपचर्याशमितं तन्महकैश्च लोकशान्त्यै ॥१७॥–भद्र० सं०।

इस पद्यको देखनेसे मालूम होता है कि भद्रबाहुसंहितामें इसके उत्तरार्धका खास तौरसे परिवर्तन किया गया है । परिवर्तन किस दृष्टिसे किया गया और उसमें किस बातकी विशेषता रक्खी गई है, इस बातको जाननेके लिए सबसे पहले बृहत्संहिताके इस पद्यका आशय मालूम होना जरूरी है और वह इस प्रकार है:—

'ग्रहों तथा उत्पातों आदिके फल पकनेका जो समय ऊपर वर्णन किया गया है उस समय पर यदि फल दिखाई न दे तो उससे दूने समयमें वह अधिकताके साथ प्राप्त होता है । परन्तु शर्त यह है कि, वह फल सुवर्ण, रत्न और गोदानादिक शांतिसे विधिपूर्वक ब्राह्मणोंके द्वारा उपशमित न हुआ हो । अर्थात् यदि वह फल इस प्रकारसे उपशांत न हुआ हो तब ही दूने समयमें उसका अधिक पाक होगा, अन्यथा नहीं ।' स्मरण रहे, भद्रबाहुसंहितामें इस पद्यका जो कुछ परिवर्तन किया गया है वह सिर्फ इस पद्यकी उक्त शर्तका ही परिवर्तन है । इस शर्तके स्थानमें जो शर्त रक्खी गई है वह इस प्रकार है:—

'परन्तु शर्त यह है कि वह फल लोकशांतिके लिए महत्पुरुषों द्वारा की हुई जिनवचन और गुरुकी सेवासे शांत न हुआ हो ।'

इस शर्तके द्वारा इस पद्यको जैनका लिबास पहनाकर उसे जैनी बनाया गया है । साथ ही, ग्रंथकर्ताने अपने इस कृत्यसे यह सूचित किया है कि शांति सुवर्ण, रत्न, और गौआदिके दानसे नहीं होती बल्कि जिनवचन और गुरुकी सेवासे होती है । परन्तु तीसरे खंडके 'ऋषिपुत्रिका'

नामक चौथे, अध्यायमें प्रतिमादिकके उत्पातकी जिसके पाकका इस पाकाध्यायमें भी वर्णन है, शांतिका विधान करते हुए लिखा है किः—

* जं किंचिवि उप्पादं अण्णं विग्घं च तत्थ णासेइ ।
दक्खिणदेज्जसुवण्णं गावी भूमी उ विप्पदेवाणं ॥ ११२ ॥

अर्थात्—जो कोई भी उत्पात या दूसरा कोई विघ्न हो उसमें ब्राह्मण देवताओंको दक्षिणा देना चाहिए—सोना, गौ और भूमि देना चाहिए। ऐसा करनेसे उत्पातादिककी शांति होती है।

इस गाथाको पढ़कर शायद कुछ पाठक यह कह उठें कि 'यह कथन जैनधर्मके विरुद्ध है।' परन्तु विरुद्ध हो या अविरुद्ध, यहाँ उसके दिखलानेका अभिप्राय या उसपर विचार करनेका अवसर नहीं है—विरुद्ध कथनोंका अच्छा दिग्दर्शन पाठकोंको अगले लेखमें कराया जायगा—यहाँ सिर्फ यह दिखलानेकी गरज है कि ग्रंथकर्ताने एक जगह उक्त परिवर्तनके द्वारा यह सूचित किया है कि सोना तथा गौ आदिकके दानसे ब्राह्मणोंके द्वारा शांति + नहीं होती और दूसरी जगह खुले शब्दोंमें उसका विधान किया है। ऐसी हालतमें समझमें नहीं आता कि ग्रंथकर्ताके इस कृत्यको उन्मत्तचेष्टाके सिवाय और क्या कहा जाय! यहाँ पर यह भी प्रगट कर देना जरूरी है कि ग्रंथकर्ताने, अपने इस कृत्यसे छंदमें भी कुछ गड़बड़ी पैदा की है। बृहत्संहिताका उक्त पद्य 'पुष्पिताग्रा' नामक छन्दमें§ है। उसके लक्षणानुसार चतुर्थ पादमें भी गणोंका विन्यास

---

* इसकी संस्कृतछाया इस प्रकार हैः—

यत्किंचिदपि उत्पातं अन्यद्विघ्नं च तत्र नाशयति ।
दक्षिणा दद्यात् सुवर्णं गौः भूमिश्च विप्रदेवेभ्यः ॥

\+ ब्राह्मणोंके उत्कर्षकी बातको दो एक जगह और भी बदला है जिसका ऊपर उद्धृत किये हुए (ख) और (ग) भागके पद्योंमें उल्लेख आचुका है।

§ इस छंदके विषम (१–३) चरणोंमें क्रमशः नगण नगण रगण यगण और सम (२–४) चरणोंमें नगण जगण जगण रगण और एक गुरु होते हैं।

उसी प्रकार होना चाहिए था जिस प्रकार कि वह द्वितीय चरणमें पाया जाता है। परन्तु भद्रबाहुसंहितामें ऐसा नहीं है। उसके चौथे चरणका गणाविन्यास दूसरे चरणसे बिलकुल भिन्न हो गया है।

(ङ) भद्रबाहुसंहितामें 'वास्तु' नामका ३५ वाँ अध्याय है, जिसमें लगभग ६० श्लोकवसुनन्दिके 'प्रतिष्ठासारसंग्रह' ग्रंथसे उठाकर रक्खे गये हैं और जिनका पिछले लेखमें उल्लेख किया जा चुका है। इन श्लोकोंके बाद एक श्लोकमें वास्तुशास्त्रके अनुसार कथनकी प्रतिज्ञा देकर, १३ पद्य इस बृहत्संहिताके 'वास्तुविद्या' नामक ५३ वें अध्यायसे भी उठाकर रक्खे हैं। जिनमेंसे शुरूके चार पद्योंको आर्या छंदसे अनुष्टुपमें बदल कर रक्खा है और बाकीको प्रायः ज्योंका त्यों उसी छंदमें रहने दिया है। इन पद्योंमेंसे भी दो नमूने इस प्रकार हैं:—

१—षष्टिश्चतुर्विहीना वेश्मानि भवन्ति पंच सचिवस्य।
स्वाष्टांशयुता दैर्घ्ये तदर्धतो राजमहिषीणाम्॥ ६॥(—बृहत्संहिता।)

सचिवस्य पंच वेश्मानि चतुर्हीना तु षष्टिकाः।
स्वाष्टांशयुतदैर्घ्याणि महिषीणां तदर्धतः॥ ६८॥ (—भद्रबा० सं०।)

२—ऐशान्यां देवगृहं महानसं चापि कार्यमाग्नेय्याम्।
नैर्ऋत्यां भाण्डोपस्करोऽर्थ धान्यानि मारुत्याम्॥ ७८॥

इन पद्योंमें दूसरे नम्बरका पद्य ज्योंका त्यों नकल किया गया है और बृहत्संहितामें नं० ११८ पर दर्ज है। पहले पद्यमें सिर्फ छंदका परिवर्तन है। शब्द प्रायः वहींके वही पाये जाते हैं। इस परिवर्तनसे पहले चरणमें एक अक्षर बढ़ गया है—८ की जगह ९ अक्षर हो गये हैं। यदि ग्रंथकर्ताजी किसी मामूली छंदोवित्से भी सलाह ले लेते तो वह कमसे कम 'सचिवस्य' के स्थानमें उन्हें 'मंत्रिणः' कर देना जरूर बतला देता, जिससे छंदका उक्त दोष सहजहीमें दूर हो जाता। अस्तु।

ऊपरके इस संपूर्ण परिचयसे—ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे हुए, स्थानान्तर किये हुए, छूटेहुए, छोड़े हुए और परिवर्तित किये हुए पद्योंके नमूनोंसे—साफ जाहिर है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि यह सब कथन उक्त बृहत्संहितासे उठाकर ही नहीं बल्कि चुराकर रक्खा गया है। साथ ही इससे ग्रंथकर्ताकी सारी योग्यता और धार्मिकताका अच्छा पता मालूम हो जाता है।

(३) पहले लेखमें, भद्रबाहु और राजा श्रेणिककी (ग्रंथकर्ता द्वारा गढ़ी हुई) असम्बन्द्ध मुलाकातको दिखलाते हुए, हिन्दुओंके 'बृहत्पाराशरी होरा' ग्रंथका उल्लेख किया जा चुका है। इस ग्रंथसे लगभग दोसौ श्लोक उठाकर भद्रबाहुसंहिताके अध्याय नं० ४१ और ४२ में रक्खे गये हैं। संहितामें इन सब श्लोकोंकी नकल प्रायः ज्योंकी त्यों पाई जाती है। सिर्फ दस पाँच श्लोक ही इनमें ऐसे नजर आते हैं जिनमें कुछ थोड़ासा परिवर्तन किया गया है। नमूने इस प्रकार हैं:—

१—भौमजीवारुणाः पापाः एक एव कविः शुभः।
शनैश्चरेण जीवस्य योगोमेषभवो यथा ॥४१—१६॥

२—स्वत्रिंशांशेऽथवा मित्रे त्रिंशांशे वा स्थितो यदि।
तस्य भुक्तिः शुभा प्रोक्ता भद्रबाहुमहर्षिभिः॥४२—१८

३—एवं देहादिभावानां षड्वर्गगतिभिः फलम्।
सम्यग्विचार्य मतिमान्प्रवदेत् मागधाधिपः ॥ ४२—द्वि० १७

इनमेंसे पहला श्लोक ज्योंका त्यों है और वह उक्त पाराशरी होराके पूर्वखंडसम्बन्धी १३ वें अध्यायमें नं० १९ पर दर्ज है। दूसरे श्लोकमें 'कालविद्भिर्मनीषिभिः' के स्थानमें 'भद्रबाहुमहर्षिभिः' और तीसरे श्लोकमें 'कालवित्तमः' की जगह मागधाधिपः' बनाया गया है। दूसरे श्लोकमें भद्रबाहुके नामका जो परिवर्तन

---

१ यह श्लोक बृहत्पाराशरीहोराके ३७ वें अध्यायमें नं० ३ पर दर्ज है।
२ यह श्लोक बृ० पाराशरी होराके ४६ वें, अध्यायका ११ वाँ पद्य है।

है उस प्रकारका परिवर्तन इस अध्यायके और भी अनेक श्लोकोंमें पाया जाता है और इस परिवर्तनके द्वारा ग्रंथकर्ताने हिन्दुओंके इस होरा-कथनको भद्रबाहुका बनानेकी चेष्टा की है। रहा तीसरे श्लोकका परिवर्तन, वह बड़ा ही विलक्षण है। इसके मूलमें लिखा था कि 'इस प्रकार बुद्धिमान् ज्योतिषी (कालवित्तमः) भले प्रकार विचार करके फल कहे'। परन्तु संहिताके कर्ताने, अपने इस परिवर्तनसे, फल कहनेका वह काम मागधोंके राजाके सपुर्द कर दिया है! और इसलिए उसका यह परिवर्तन यहाँ बिलकुल असंगत मालूम होता है। यदि विसर्गको हटाकर यहाँ 'मागधाधिपः' के स्थानमें 'मागधाधिप' ऐसा सम्बोधनपद भी मान लिया जाय तो भी असम्बद्धता दूर नहीं होती। क्योंकि ग्रंथमें इससे पहले उक्त राजाका कोई ऐसा प्रकरण या प्रसंग नहीं है जिससे इस पदका सम्बंध हो सके।

(४) हिन्दुओंके यहाँ 'लघुपाराशरी' नामका भी एक ग्रंथ है और इस ग्रंथसे भी बहुतसे श्लोक कुछ परिवर्तनके साथ उठाकर भद्रबाहुसंहिताके अध्याय नं० ४१ में रक्खे हुए मालूम होते हैं, जिनमेंसे एक श्लोक उदाहरणके तौर पर इस प्रकार है:—

योगो दशास्वपि भवेत्प्रायस्सुयोगकारिणोः।
दशायुग्मे मध्यगतस्तद्युक् शुभकारिणाम्॥ ४१॥

लघुपाराशरीमें यह श्लोक इस प्रकार दिया है:—

दशास्वपि भवेद्योगः प्रायशो योगकारिणोः।
दशाद्वयी मध्यगतस्तद्युक् शुभकारिणाम्॥ १८॥

पाठक दोनों पद्यों पर दृष्टि डालकर देखें, कितना सुगम परिवर्तन है! दो एक शब्दोंको आगे पीछे कर देने तथा किसी किसी शब्दका पर्यायवाचक शब्द रख देने मात्रसे परिवर्तन हो गया है। लघुपाराशरीके दूसरे पद्योंका भी प्रायः यही हाल है। संहितामें उनका भी इसी प्रकारका परिवर्तन पाया जाता है।

(५) भद्रबाहुसंहिताके दूसरे खंडमें 'लक्षण' नामका एक अध्याय नं० ३७ है, जिसमें प्रधानतः +स्त्रीपुरुषोंके अंगों-उपांगों आदिके लक्षणोंको दिखलाते हुए उनके शुभाशुभ फलका वर्णन किया है। इस अध्यायका पहला पद्य इस प्रकार है—

> जिनदेवं प्रणम्यादौ सर्वज्ञं विबुधार्चितम्।
> लक्षणानि च वक्ष्येऽहं भद्रबाहुर्यथागमं ॥ १ ॥

इस पद्यमें, मंगलाचरणके बाद, लिखा है कि 'मैं भद्रबाहु आगमके अनुसार लक्षणोंका कथन करता हूँ।' इस प्रतिज्ञावाक्यसे एक दम ऐसा मालूम होता है कि मानो भद्रबाहु स्वयं इस अध्यायका प्रणयन कर रहे हैं और ये सब शब्द उन्हींकी कलमसे अथवा उन्हींके मुखसे निकले हुए हैं; परंतु नीचेके इन दो पद्योंके पढ़नेसे, जो उक्त पद्यके अनन्तर दिये हैं, कुछ और ही मालूम होने लगता है। यथाः—

> पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमेव च।
> आयुर्हीननृनारीणां लक्षणैः किं प्रयोजनम् ॥ २ ॥
> नारीणां वामभागे तु पुरुषस्य च दक्षिणे।
> यथोक्तं लक्षणं तेषां भद्रबाहुवचो यथा ॥ ३ ॥

पद्य नं० ३ में 'भद्रबाहुवचो यथा' ये शब्द आये हैं, जिनका अर्थ होता है 'भद्रबाहुके वचनानुसार अथवा जैसा कि भद्रबाहुने कहा है।' अर्थात् ये सब वचन खास भद्रबाहुके शब्द नहीं हैं—उन्होंने इस अध्यायका प्रणयन नहीं किया बल्कि उनके वचनानुसार (यदि यह सत्य हो) किसी दूसरे ही व्यक्तिने इसकी रचना की है। आगे भी इस अध्यायके श्लोक नं० ३२, १३१ और १९५ में यही 'भद्रबाहुवचो यथा,' शब्द पाये जाते हैं, जिनसे इस पिछले कथनकी और भी

+ अन्तके २० पद्योंमें कुछ थोड़ेसे हाथी घोड़ोंके भी लक्षण दिये हैं।

अधिक पुष्टि होती है। इसके सिवाय एक स्थानपर, श्लोक नं० १३६ में, ग्राह्यकन्या कैसी होती है, इत्यादि प्रश्न देकर अगले श्लोक नं० १३७ में 'भद्रबाहुरुवाचेति'—इस पर भद्रबाहु बोले, इन शब्दोंके साथ उसका उत्तर दिया गया है। प्रश्नोत्तर रूपके ये दोनों श्लोक पहले लेखमें उद्धृत किये जा चुके हैं। इनसे बिलकुल स्पष्ट होजाता है कि यह सब कथन भले ही भद्रबाहुके वचनानुसार लिखा गया हो, परन्तु वह खास भद्रबाहुका वचन नहीं है और न उन लोगोंका वचन है जिनके प्रश्नपर भद्रबाहु उत्तररूपसे बोले थे। क्योंकि यहाँ 'उवाच' ऐसी परोक्ष भूतकी क्रियाका प्रयोग पाया जाता है। ऐसी हालतमें कहना पड़ता है कि यह सब रचना किसी तीसरे ही व्यक्तिकी है परन्तु ऐसा होनेपर पहले श्लोकमें दिये हुए उक्त प्रतिज्ञावाक्यसे विरोध आता है और इसलिए सारे कथन पर जालीपनेका संदेह होजाता है। तीसरे नम्बरके पद्यको फिरसे जरा गौरके साथ पढ़ने पर मालूम होता है कि उसमें 'भद्रबाहुवचो यथा' के होते हुए 'यथोक्तम्' पद व्यर्थ पड़ा है, उसका 'तेषां' शब्द खटकता है और चूँकि 'यथोक्तं' पद 'लक्षणं' पदका विशेषण है, इसलिए इस पद्यमें कोई क्रियापद नहीं है और न पिछले तथा अगले दोनों पद्योंकी क्रियाओंसे उसका कोई सम्बंध पाया जाता है। ऐसी हालतमें, इस पद्यका अर्थ होता है—'स्त्रियोंके वाम भागमें और पुरुषके दक्षिणभागमें उनका यथोक्त लक्षण भद्रबाहुके वचनानुसार।' इस अर्थसे यह पद्य यहाँ बिलकुल असम्बद्ध मालूम होता है और किसी दूसरे पद्यपरसे परिवर्तित करके बनाये जानेका खयाल उत्पन्न करता है। शब्दकल्पद्रुम कोशमें 'सामुद्रक' शब्दके नीचे कुछ श्लोक किसी सामुद्रकशास्त्रसे उद्धृत करके रक्खे गये हैं जिनमेंके दो श्लोक इसप्रकार हैं:—

वामभागे तु नारीणां दक्षिणे पुरुषस्य च।
निर्दिष्टं लक्षणं तेषां समुद्रेण यथोदितम्॥

पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमेव च ।
आयुर्हीनं नराणां चेत् लक्षणैः किं प्रयोजनम् ॥

इन श्लोकोंमें पहला श्लोक उक्त तीसरे पद्यसे बहुत कुछ मिलता जुलता है । मालूम होता है कि संहिताका उक्त पद्य इसी श्लोक परसे या इसके सदृश किसी दूसरे श्लोक परसे परिवर्तित किया गया है और इस परिवर्तनके कारण ही वह कुछ दूषित और असम्बंधित बन गया है । अन्यथा, इस श्लोकमें उक्त प्रकारका कोई दोष नहीं है। इसका 'तेषां' पद भी इससे पहले श्लोकके+उत्तरार्धमें आये हुए 'मनुष्याणां' पदसे सम्बन्ध रखता है । रहा दूसरा श्लोक, उसे देखनेसे मालूम होता है कि वह और संहिताका ऊपर उद्धृत किया हुआ पद्य नं० २ दोनों एक हैं। सिर्फ तीसरे चरणमें कुछ नाममात्रका परिवर्तन है जिससे कोई अर्थभेद नहीं होता । बहुत संभव है कि संहिताका उक्त पद्य भी इस दूसरे श्लोकपरसे परिवर्तित किया गया हो । परन्तु इसे छोड़कर यहाँ एक बात और नोट की जाती है और वह यह है कि इस अध्यायमें एक स्थान पर, 'नारदस्य वचो यथा' यह पद देकर नारदके वचनानुसार भी कथन करनेको सूचित किया है । यथाः—

ललाटे यस्य जायेत रेखात्रयसमागमः ।
षष्टिवर्षायुरुद्दिष्टं नारदस्य वचो यथा ॥१३०॥

इससे मालूम होता है कि इस अध्यायका कुछ कथन किसी ऐसे ग्रंथसे भी उठाकर रक्खा गया है जो हिन्दुओंके नारद मुनि या नारदाचार्यसे सम्बंध रखता है । 'नारदस्य वचो यथा' और 'भद्रबाहुवचो यथा' ये दोनों पद एक ही वजनके हैं । आश्चर्य नहीं कि इस अध्यायमें जहाँ 'भद्रबाहुवचो यथा' इस पदका प्रयोग पाया जाता है वह 'नारदस्य वचो यथा' इस पदको बदल कर ही बनाया गया हो और

+ वह उत्तरार्ध इस प्रकार हैः—' लक्षणं तु मनुष्याणां एकैकेन वदाम्यहम् ।

ऊपरके पद्यमें ' नारदस्य ' के स्थानमें ' भद्रबाहु ' का परिवर्तन करना रह गया हो । परन्तु कुछ भी हो ऊपरके इस संपूर्ण कथनसे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि इस अध्यायका यह सब कथन, जो २२० पद्योंमें है, एक या अनेक सामुद्रकशास्त्रों–लक्षणग्रंथों–अथवा तद्विषयक अध्यायोंसे उठाकर रक्खा गया है और कदापि भद्रबाहुश्रुतकेवलीका वचन नहीं है ।

(६) भद्रबाहुसंहिताके पहले खंडमें दस अध्याय हैं, जिनके नाम हैं–१ चतुर्वर्णनित्यक्रिया, २ क्षत्रियनित्यकर्म, ३ क्षत्रियधर्म, ४ कृतिसंग्रह, ५ सीमानिर्णय, ६ दंडपारुष्य, ७ स्तैन्यकर्म, ८ स्त्रीसंग्रहण, ९ दायभाग और १० प्रायश्चित्त । इन सब अध्यायोंकी अधिकांश रचना प्रायः मनु आदि स्मृतियोंके आधार पर हुई है, जिनके सैकड़ों पद्य या तो ज्योंके त्यों और या कुछ परिवर्तनके साथ जगह जगह पर इन अध्यायोंमें पाये जाते हैं । मनुके १८ व्यवहारों–विवादपदों–का भी अध्याय नं० ३ से ९ तक कथन किया गया है । परन्तु यह सब कथन पूरा और सिलसिलेवार नहीं है । इसके बीचमें कृतिसंग्रह नामका चौथा अध्याय अपनी कुछ निराली ही छटा दिखला रहा है–उसका मजमून ही दूसरा है–और उसमें कई विवादोंके कथनका दर्शन तक भी नहीं कराया गया । इन अध्यायों पर यदि विस्तारके साथ विचार किया जाय तो एक खासा अलग लेख बन जाय; परन्तु यहाँ इसकी जरूरत न समझकर सिर्फ उदाहरणके तौरपर कुछ पद्योंके नमूने दिखलाये जाते हैं:—

क—ज्योंके त्यों पद्य ।

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दंडनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारंभांश्च लोकतः ॥ २–१२४ ॥
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥–१४५॥

ये दोनों पद्य मनुस्मृतिके सातवें अध्यायके हैं जहाँ वे क्रमशः नं० ४३ और ५६ पर दर्ज हैं ।

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४-४२ ॥

यह पद्य मनुस्मृतिके चौथे अध्यायका ४० वाँ पद्य है ।

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्विशतो दमः ।
शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥ ८-१४ ॥

यह पद्य मनुस्मृतिके आठवें अध्यायमें नं० ३६९ पर दर्ज है ।

ख—परिवर्तित पद्य ।

मनुस्मृतिके सातवें अध्यायमें, राजधर्मका वर्णन करते हुए, राजाके कामसे उत्पन्न होनेवाले दस व्यसनोंके जो नाम दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥

भद्रबाहुसंहितामें इस पद्यके स्थानमें निम्न लिखित डेढ़ पद्य दिया है:—

परिवादो दिवास्वप्नः मृगयाक्षो वृथाटनम् ।
तौर्यत्रिकं स्त्रियो मद्यमसत्यं स्तैन्यमेव च ॥ २-१३८ ॥
इमे दशगुणाः प्रोक्ताः कामजाः बुधनिन्दिताः ।

दोनों पद्योंके मीलानसे जाहिर है कि भद्रबाहुसंहिताका यह डेढ़ पद्य मनुस्मृतिके उक्त पद्य नं० ४७ परसे, उसके शब्दोंको आगे पीछे करके बनाया गया है । सिर्फ 'असत्य' और 'स्तैन्य' ये दो व्यसन इसमें ज्यादह बढ़ाये गये हैं, जिनकी वजहसे कामज व्यसनों या गुणोंकी संख्या दसके स्थानमें बारह हो गई है । परंतु वैसे भद्रबाहुसंहितामें भी यह संख्या दस ही लिखी है, जिससे विरोध आता है । संभव है कि ग्रंथकर्ताने 'तौर्यत्रिक' को एक गुण या एक चीज समझा हो । परन्तु

वास्तवमें ऐसा नहीं है। गाना, बजाना और नाचना ये तीनों चीजें अलग अलग हैं और अलग अलग गुण कहे जाते हैं, जैसा कि उक्त पदमें लगे हुए 'त्रिक' शब्दसे भी जाहिर है।

> नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
> शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ ४-१७२ ॥
>
> (-मनुस्मृतिः।)

> नाधर्मस्त्वरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
> शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ ४-८५ ॥
>
> (-भद्रबाहुसं०।)

ये दोनों पद्य प्रायः एक हैं। भद्रबाहुसंहिताके पद्यमें जो कुछ थोड़ासा परिवर्तन है वह समीचीन मालूम नहीं होता। उसका 'मिश्रं' पद बहुत खटकता है और वह यहाँ पर कुछ भी अर्थ नहीं रखता। यदि उसे किसी तरह पर 'सद्यः' का पर्यायवाचक शब्द 'शीघ्र' मान लिया जाय तो ऐसी हालतमें 'स्त्वरितो' के स्थानमें 'श्चरितो' भी मानना पड़ेगा और तब पद्य भरमें सिर्फ एक शब्दका ही अनावश्यक परिवर्तन रह जायगा।

> आत्मा वै जायते पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
> तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥९-२६॥

दायभाग प्रकरणका यह पद्य वही है जो मनुस्मृतिके ९ वें अध्यायमें नं० १३० पर दर्ज है। सिर्फ उसके 'यथैवात्मा तथा पुत्रः' के स्थानमें 'आत्मा वै जायते पुत्रः' यह वाक्य बनाया गया है। इस परिवर्तनसे 'पुत्र अपने ही समान हकदार है' की जगह 'आत्मा निश्चयसे पुत्ररूप होकर उत्पन्न होता है' यह अर्थ होगया है।

> कृत्वा यज्ञोपवीतं तु पृष्ठतः कंठलम्बितम्।
> विण्मूत्रे तु गृही कुर्याद्वामकर्णे व्रतान्वितः ॥ १-१८॥

यह पद्य वही है जिसे विट्ठल नारायण कृत ' आह्निक ' में ' अंगिराः ' ऋषिका वचन लिखा है। सिर्फ ' समाहितः ' के स्थानमें यहाँ पर ' व्रतान्वितः ' का परिवर्तन किया गया है।

मनुस्मृतिके आठवें अध्यायमें, लोकव्यवहारके लिए कुछ संज्ञाओंका वर्णन करते हुए, लिखा है कि झरोखेके भीतर सूर्यकी किरणोंके प्रविष्ट होनेपर जो सूक्ष्म रजःकण दिखलाई देते हैं उसको त्रसरेणु कहते हैं। आठ त्रसरेणुओंकी एक लीख, तीन लीखोंका एक राजसर्षप, तीन राजसर्षपोंका एक गौरसर्षप और छह गौरसर्षपोंका एक मध्यम यव (जौ) होता है। यथाः--

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥
त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपाः ॥ १३३ ॥
सर्षपाः षट् यवो मध्यः..................।

भद्रबाहुसंहिताके कर्ताने मनुस्मृतिके इस कथनमें त्रसरेणुसे परमाणुका अभिप्राय समझकर तथा राजसर्षप और गौरसर्षपके भेदोंको उड़ाकर जो कथन किया है वह इस प्रकार है:—

+ यस्य भागो पुनर्नैस्यात्परमाणुः स उच्यते।
तेऽष्टौ लिक्षा त्रयस्तच्च सर्षपस्ते यवो द्वि षट् ॥ ३-२५२ ॥

अर्थात्—जिसका विभाग न हो सके उसको परमाणु कहते हैं। आठ परमाणुओंकी एक लीख, तीन लीखोंका एक सर्षप (सरसोंका दाना) और

+ इससे पहले श्लोकमें त्रसरेण्वादिके भेदसे ही मानसंज्ञाओंके कथनकी प्रतिज्ञा की गई है जिससे मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताने त्रसरेणुको परमाणु समझा है। यथाः—संसारव्यवहारार्थं मानसंज्ञा प्रकथ्यते।
हेमरत्नादिवस्तूनां त्रसरेण्वादिभेदतः ॥ २५१ ॥

छह सर्षपोंका एक जौ होता है। संहिताका यह सब कथन जैनदृष्टिसे बिलकुल गिरा हुआ ही नहीं बल्कि नितान्त, असत्य मालूम होता है। इस कथनके अनुसार एक जौ, असंख्यात अथवा अनंत परमाणुओंकी जगह, सिर्फ १४४ परमाणुओंका पुंज ठहरता है, जब कि मनुस्मृतिका कर्ता उसे ४३२ त्रसरेणुओंके बराबर बतलाता है। एक त्रसरेणुमें बहुतसे परमाणुओंका समूह होता है। परमाणुको जैनशास्त्रोंमें इंद्रियगोचर नहीं माना; ऐसी हालत होते हुए लौकिक व्यवहारमें परमाणुके पैमानेका प्रयोग भी समुचित प्रतीत नहीं होता। इन सब बातोंसे मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताने संज्ञाओंका यह कथन मनस्मृति या उसके सदृश किसी दूसरे ग्रंथसे लिया तो जरूर है; परन्तु वह उसके आशयको ठीक तौरसे समझ नहीं सका और उसने परमाणुका लक्षण साथमें लगाकर जो इस कथनको जैनकी रंगत देनी चाही है उससे यह कथन उलटा जैनके विरुद्ध हो गया है और इससे ग्रंथकर्ताकी साफ मूर्खता टपकती है। सत्य है 'मूर्खोंका प्रसाद भी भयंकर होता है।'

(७) इस संहितामें अनेक कथन ऐसे पाये जाते हैं जिन्हें ग्रंथकर्ताने विना किसी नूतन आवश्यकताके एकसे अधिक वार वर्णन किया है और जिनके इस वर्णनसे न सिर्फ ग्रंथकर्ताकी मूढता अथवा हिमाकत ही जाहिर होती है बल्कि साथ ही यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि यह पूरा ग्रंथ किसी एक व्यक्तिकी स्वतंत्र रचना न होकर प्रायः भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके प्रकरणोंका एक बेढंगा संग्रह मात्र है। ऐसे कथनोंके कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

(क) पहले खंडके 'प्रायश्चित्त' नामक १० वें अध्यायमें, एक स्थान पर, ये तीन पद्य दिये हैं:—

पण दस बारस णियमा पण्णारस होइ तह्य दिवसेहिं।
खत्तिय बंभाविस्सा सुद्दाय कमेण सुज्झंति ॥ ३७ ॥

क्षत्रियासूतकं पंच विप्राणां दश उच्यते ।
वैश्यानां द्वादशाहेन मासार्धेऽपितरे जने ॥ ३८ ॥
यतिः क्षणेन शुद्धः स्यात्पंच रात्रेण पार्थिवः ।
ब्राह्मणो दशरात्रेण मासार्धेनेतरो जनः ॥ ३९ ॥

इन तीनों पद्योंमेंसे कोई भी पद्य 'उक्तं च' आदि रूपसे किसी दूसरे व्यक्तिका प्रगट नहीं किया गया और न दूसरा पद्य पहले प्राकृत पद्यकी छाया है। तो भी पहले पद्यमें जिस बात का वर्णन दिया है वही वर्णन दूसरे पद्यमें भी किया गया है। दोनों पद्योंमें क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रोंकी सूतकशुद्धिकी मर्यादा क्रमशः पाँच, दस, बारह और पंद्रह दिनकी बतलाई है। रहा तीसरा पद्य, उसमें क्षत्रियों और ब्राह्मणोंकी शुद्धिका तो कथन वही है जो ऊपरके दोनों पद्योंमें दिया है और इसलिए यह कथन तीसरी बार आगया है, बाकी रही वैश्यों और शूद्रोंकी शुद्धिकी मर्यादा, वह इसमें १५ दिनकी बतलाई है, जिससे वैश्योंकी शुद्धिका कथन पहले दोनों पद्योंके कथनसे विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि उनमें १२ दिनकी मर्यादा लिखी है। इसके सिवाय ग्रंथमें इन तीनों पद्योंका ग्रंथके पहले पिछले पद्योंके साथ कुछ सम्बंध ठीक नहीं बैठता और ये तीनों ही पद्य यहाँ 'उठाऊ चूल्हा' जैसे मालूम पड़ते हैं।

(ख) दूसरे खंडमें 'तिथि' नामका २८ वाँ अध्याय है, जिसमें कुल तेरह पद्य हैं। इनमेंसे छह पद्य नं० ४, ५, ७, ८, ९, १० बिलकुल वे ही हैं जो इससे पहले 'मुहूर्त' नामके २७ वें अध्यायमें क्रमशः नं० ९, १०, १७, १८, १९, २० पर दर्ज हैं। यहाँ पर उन्हें व्यर्थ ही दुबारा रक्खा गया है।

(ग) दूसरे खंडमें 'विरोध' नामका एक ४३ वाँ, अध्याय भी है जिसमें कुल ६३ श्लोक हैं। इन श्लोकोंमें शुरूके साढ़े तेईस श्लोक—नं० २ से नं० २५ के पूर्वार्ध तक—बिलकुल ज्योंके त्यों वे ही हैं जो

पहले इसी खंडके 'ग्रहयुद्ध' नामके २४ वें अध्यायके + शुरूमें आचुके हैं और उन्हीं नम्बरों पर दर्ज हैं। समझमें नहीं आता कि जब दोनों अध्यायोंका विषय भिन्न भिन्न था तो फिर क्यों एक अध्यायके इतने अधिक श्लोकोंको दूसरे अध्यायमें फिजूल नकल किया गया। संभव है कि इन दोनों विषयोंमें ग्रंथकर्ताको परस्पर कोई भेद ही मालूम न हुआ हो। उसे इस 'विरोध' नामके अध्यायको रखनेकी जरूरत इस वजहसे पड़ी हो कि उसके नामकी सूचना उस विषयसूचीमें की गई है जो इस खंडके पहले अध्यायमें लगी हुई है और जो पहला अध्याय अगले २३-२४ अध्यायोंके साथ किसी दूसरे व्यक्तिका बनाया हुआ है, जैसा कि पहले लेखमें सूचित किया जा चुका है और इसलिए ग्रंथकर्ताने इस अध्यायमें कुछ श्लोकोंको 'ग्रहयुद्ध' प्रकरणसे और बाकीको एक या अनेक ताजिक ग्रंथोंसे उठाकर रख दिया हो और इस तरहपर इस अध्यायकी पूर्ति की हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि ग्रंथकर्ताने अपने इस कृत्यद्वारा सर्व साधारण पर अपनी खासी मूर्खता और हिमाकतका इजहार किया है।

(घ) इस ग्रंथमें 'स्वप्न' नामका एक अध्याय नं० २६ है, जिसमें केवल स्वप्नका ही वर्णन है और दूसरा 'निमित्त' नामका ३० वाँ अध्याय है, जिसमें स्वप्नका भी वर्णन दिया है। इन दोनों अध्यायोंमें स्वप्नविषयक जो कुछ कथन किया गया है उसमेंसे बहुतसा कथन एक दूसरेसे मिलता जुलता है और एकके होते दूसरा बिलकुल व्यर्थ और फिजूल मालूम होता है। नमूनेके तौरपर यहाँ दोनों अध्यायोंसे सिर्फ दो दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं:-

१-मधुरैर्निर्विशेत्स्वप्ने दिवा वा यस्य वेश्मनि।
तस्यार्थनाशं नियतं मृतोवाप्यभिनिर्दिशेत् ॥ ४५ ॥ —अध्याय २६।

+ इस २४ वें अध्यायमें कुल ४३ श्लोक हैं।

मधुछत्रं विशेत्स्वप्ने दिवा वा यस्य वेश्मनि ।

अर्थनाशो भवेत्तस्य मरणं वा विनिर्दिशेत् ॥१३३॥ —अध्याय ३० ।

२–मूत्रं वा कुरुते स्वप्ने पुरीषं वा सलोहितम् ।

प्रतिबुध्येत्तथा यश्च लभते सोऽर्थनाशनम् ॥ ५२ ॥ —अ० २६ ।

पुरीषं लोहितं स्वप्ने मूत्रं वा कुरुते तथा ।

तदा जागर्ति यो मर्त्यो द्रव्यं तस्य विनश्यति ॥१२१॥ —अ० ३० ।

इनसे साफ जाहिर है कि ग्रंथकर्ताने इन दोनों अध्यायोंका स्वप्नविषयक कथन भिन्न भिन्न स्थानोंसे उठाकर रक्खा है और उसमें इतनी योग्यता नहीं थी कि वह उस कथनको छाँटकर अलग कर देता जो एक बार पहले आचुका है। इसी तरह पर इस ग्रंथमें 'उत्पात' नामका एक अध्याय नं० १४ है, जिसमें केवल उत्पातका ही वर्णन है और दूसरा 'ऋषिपुत्रिका' नामका चौथा अध्याय, तीसरे खंडमें है जिसमें उत्पातका प्रधान प्रकरण है। इन दोनों अध्यायोंका बहुतसा उत्पातविषयक कथन भी एक दूसरेसे मिलता जुलता है। इनके भी दो दो नमूने इस प्रकार हैं:—

नर्तनं जलनं हास्यं उल्कालापौ निमीलनं ।

देवा यत्र प्रकुर्वन्ति तत्र विंद्यान्महद्भयम्॥ १४-१०२ ॥

* देवा णच्चंति जहिं पसिज्जंति तहय रोवंती ।

जइ धूमंति चलंति य हसंति वा विविहरूवेहिं ॥

लोयस्स दिंति मारिं दुब्भिक्खं तहय रोय पीडं वा ॥ ४-७८२॥

आरण्या ग्राममायान्ति वनं गच्छंति नागराः ।

उदंति चाथ जल्पंति तदारण्याय कल्पते ॥ १४-६ ॥

+ आरण्णयमिग पक्खी गामे णयरम्मि दीसदे जत्थ ।

होहदि णायरविणासो परचक्कादो न संदेहो ॥४–५६ ॥

---

* संस्कृतछायाः—देवा नृत्यंति यदि प्रस्वेयंति तथा च रुदान्ति ।
यदि धूमंति चलंति च हसंति वा विविधरूपैः ॥
लोकस्य ददति मारीं दुर्भिक्षं तथा रोगपीडां वा ॥ ७८ ॥

+ संस्कृतछायाः—आरण्यकमृगपक्षी ग्रामे नगरे च दृश्यते यत्र ।
भविष्यति नगरविनाशः परचक्रात् न संदेहः ॥ ५६ ॥

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि इन अध्यायोंका यह उत्पातविषयक कथन भी भिन्न भिन्न स्थानोंसे उठाकर रक्खा गया है और चूँकि इन दोनों अध्यायोंमें वहुतसा कथन एक दूसरेके विरुद्ध भी पाया जाता है, जिसका दिग्दर्शन अगले लेखमें कराया जायगा, इसलिए ये दोनों अध्याय किसी एक व्यक्तिके वनाये हुए भी नहीं हैं। ग्रंथकर्ताने उन्हें जहाँ तहाँसे उठाकर विना सोचे समझे यहाँ जोड़ दिया है।

(८) यद्यपि इससे पहले लेखमें और इस लेखमें भी ऊपर, प्रसंगानुसार, असम्वद्ध कथनोंका वहुत कुछ उल्लेख किया जा चुका है तो भी यहाँ पर कुछ थोड़ेसे असम्वद्ध कथनोंको और दिखलाया जाता है, जिससे पाठकोंपर ग्रंथका वेढंगापन और भी अधिकताके साथ स्पष्ट हो जाय:—

(क) गणेशादिमुनीन् सर्वान् नमंति शिरसा सदा।
निर्वाणक्षेत्रपूजादीन् भुंजंतीन्द्राश्च भो नृप ॥३६–५१॥
त्रसरेण्वादिकं चान्यात्तिलकालकसंभवं।
इत्येवं व्यंजनानां च लक्षणं तत्त्वतो नृप ॥३८–१९॥
मनुष्येषु भवेच्चिह्नं छत्रतोरणचामरं।
सिंहासनादिमत्स्यान्तंराज्यचिह्नं भवेन्नृप ॥ ३९–६ ॥
विदिग्गतश्चोर्ध्वगतोऽधोगतो दीप एव च।
कदाचिद्भवति प्रायो ज्ञेयो राजन् शुभोऽशुभः ॥ ३–८–१८ ॥

ये चारों पद्य क्रमशः १ दिव्येन्द्रसंपदा, २ व्यंजन, ३ चिह्न और ४ दीप नामके चार अलग अलग अध्यायोंके पद्य हैं। इनमें 'नृप' और 'राजन्' शब्दोंद्वारा किसी राजाको सम्वोधन करके कथन किया गया है; परन्तु पहले यह वतलाया जा चुका है कि इस संपूर्ण ग्रंथमें कहीं भी किसी राजाका कोई प्रकरण या प्रसंग नहीं है और न किसी राजाके प्रश्न पर इस ग्रंथकी रचना की गई है, जिसको सम्वोधन करके ये सब

वाक्य कहे जाते। इसलिए ये चारों पद्य इस ग्रंथमें बिलकुल असम्बद्ध तथा अनमेल मालूम होते हैं और साथ ही इस बातको सूचित करते हैं कि ग्रंथकर्ताने इन चारों पद्योंहीको नहीं बल्कि संभवतः उक्त चारों अध्यायोंको किसी ऐसे दूसरे ग्रंथ या ग्रंथोंसे उठाकर यहाँ रक्खा है जहाँ उक्त ग्रंथ या ग्रंथोंके कर्ताओंने उन्हें अपने अपने प्रकरणानुसार दिया होगा। मालूम होता है कि संहिताके कर्ताके ध्यानमें ही ये सम्बोधन पद नहीं आये। अथवा यों कहना चाहिए कि उसमें इनके सम्बंधविशेषको समझनेकी योग्यता ही नहीं थी। इस लिए उसने उन्हें ज्योंका त्यों नकल कर दिया है।

(ख) इस ग्रंथके तीसरे खंडमें 'नवग्रहस्तुति' नामका सबसे पहला अध्याय है। अन्तिम वक्तव्यमें भी इस अध्यायका नाम 'ग्रहस्तुति' ही लिखा है; परन्तु इस सारे अध्यायका पाठ कर जाने पर, जिसमें कुल १५ पद्य हैं, ग्रहोंकी स्तुतिका इसमें कहीं भी कुछ पता नहीं है। इसका पहला पद्य मंगलाचरण और प्रतिज्ञाका है, जिसमें 'ग्रहशान्तिं प्रवक्ष्यामि' इस वाक्यके द्वारा ग्रहोंकी स्तुति नहीं बल्कि शान्तिके कथनकी प्रतिज्ञा की गई है +। दूसरे पद्यमें ग्रहों (खेचरों) को 'जैनेन्द्र' बतलाया है और उनके पूजनकी प्रेरणा की है। इसके बाद चार पद्योंमें तीर्थंकरों और ग्रहोंके नामोंका मिश्रण है। ये चारों पद्य संस्कृत साहित्यकी दृष्टिसे बड़े ही विलक्षण मालूम होते हैं। इनसे किसी यथेष्ट आशयका निकालना बड़े बुद्धिमानका काम है *। सातवें पद्यमें खेचरों सहित जिनेंद्रोंके पूजनकी प्रेरणा है। आठवें पद्यमें ग्रहोंके नाम दिये हैं और उन्हें 'जिन'

+ 'शान्ति' नामका एक दूसरा अध्याय नं० १० इस तीसरे खंडमें अलग दिया है, जिसमें 'ग्रहशान्ति' का बहुत कुछ विस्तारके साथ वर्णन है। यह अध्याय ग्रहशांतिका नहीं है।

* उक्त चारों पद्य इस प्रकार हैं, जिनका अर्थ पाठकोंको किसी संस्कृत जाननेवालेसे मालूम करना चाहिए:—

भगवानकी पूजा करनेवाले बतलाया है। इसके बादके दो पद्योंमें लिखा है कि " जो कोई जिनेंद्रके सन्मुख ग्रहोंको प्रसन्न करनेके लिए 'नमस्कारशत' को भक्तिपूर्वक १०५ बार जपता है (उससे क्या होता है? यह कुछ नहीं बतलाया)। पाँचवें श्रुतकेवली भद्रबाहुने यह सब कथन किया है। विद्यानुवाद पूर्वकी ग्रहशांतिविधि की गई। " यथाः—

जिनानामग्रतो योहि ग्रहाणां तुष्टिहेतवे।
नमस्कारशतं भक्त्या जपेदष्टोत्तरं शतं ॥ ६ ॥

भद्रबाहुरुवाचेति पंचमः श्रुतकेवली।
विद्यानुवादपूर्वस्य ग्रहशांतिविधिः कृतः ॥ १० ॥

११ वें पद्यमें यह बतलाया है कि जो कोई नित्य प्रातःकाल उठकर विघ्नोंकी शांतिके लिए पढ़े (क्या पढ़े? यह कुछ सूचित नहीं किया) उसकी विपदायें नाश हो जाती हैं और उसे सुख मिलता है। इसके बाद एक पद्यमें ग्रहोंकी धूपके, दूसरेमें ग्रहोंकी समिधिके और तीसरेमें सप्त धान्योंके नाम दिये हैं और अन्तिम पद्यमें यह बतलाया है कि कैसे यज्ञके समान कोई शत्रु नहीं है। अध्यायके इस संपूर्ण परिचयसे पाठक भले प्रकार समझ सकते हैं कि इन सब कथनोंका प्रकृत विषय (ग्रहस्तुति) से कहाँ तक सम्बन्ध है और आपसमें भी ये सब कथन कितने एक दूसरेसे सम्बंधित और सुगठित मालूम होते हैं! आश्चर्य है कि ऐसे असम्बद्ध कथनोंको भी भद्रबाहु श्रुतकेवलीका वचन बतलाया जाता है।

" पद्मप्रभस्य मार्तंडश्चंद्रश्चंद्रप्रभस्य च। वासुपूज्यस्य भूपुत्रो बुधेप्यष्टजिनेश्वराः ॥ ३ ॥ विमलानन्तधर्माणः शांतिकुंथुर्नमिस्तथा। वर्धमानजिनेंद्रस्य पादपद्मे बुधं न्यसेत् ॥ ४ ॥ वृषभाजितसुपार्श्वश्चाभिनंदनशीतलौ। सुमतिः संभवः स्वामीश्रेयांसश्च बृहस्पतेः ॥ ५ ॥ सुविधेः कथितः शुक्रः सुव्रतस्य शनैश्चर। नेमिनाथो भवेद्राहोः केतुः श्रीमल्लिपार्श्वयोः ॥ ६ ॥ "

(ग) तीसरे खंडमें 'शास्ति' नामके पाँचवें अध्यायका प्रारंभ करते हुए सबसे पहले निम्न लिखित श्लोक दिया है:—

> ग्रहस्तुतिः प्रतिष्ठा च मूलमंत्रर्षिपुत्रिके ।
> शास्तिचक्रे क्रियादीपे फलशान्ती दशोत्तरे ॥ १ ॥

यह श्लोक वही है जो, उत्तर खंडके दस अध्यायोंकी सूची प्रगट करता हुआ, आन्तिम वक्तव्यमें नं० ५ पर पाया जाता है और जिसका पिछले लेखमें उल्लेख होचुका है । यहाँ पर यह श्लोक बिलकुल असम्बद्ध मालूम होता है और ग्रंथकर्ताकी उन्मत्तदशाको सूचित करता है । साथ ही इससे यह भी पाया जाता है कि 'आन्तिम वक्तव्य' आन्तिमखंडके अन्तमें नहीं बना बल्कि वह कुल या उसका कुछ भाग पहलेसे गढ़ा जाचुका था । तबही उसके उक्त वाक्यका यहाँ इतने पहलेसे अवतार होसका है । इस श्लोकके आगे प्राकृतके ११ पद्योंमें संस्कृतछायासहित इस अध्यायका जो कुछ वर्णन किया है वह पहले पद्यको छोड़कर जिसमें मंगलाचरण और प्रतिज्ञा है, किसी यक्षकी पूजासे उठाकर रक्खा गया है और उसकी 'जयमाल' मालूम होता है ।*

(घ) तीसरे खंडके ९ वें अध्यायमें ग्रहचारका वर्णन करते हुए 'शनेश्चरचार' के सम्बंधमें जो पद्य दिया है वह इस प्रकार है:—

> शनेश्चरं चारमिदं च भूमिपो यो वेत्ति विद्वान्निभृतो यथावत् ।
> सपूजनीयो भुवि लब्धकीर्तिः सदा सहायेव हि दिव्यचक्षुः ॥ ४३ ॥

---

* मंगलाचरणके बादका पद्य निम्न प्रकार है और अन्तमें 'घत्ता' के बाद 'मइ णिम्मल होउ...' इत्यादि एक पद्य दिया है:—"चारणावास कैलास सैलासिओ, किंणरीवेणुवीणाझुणीतोसिओ । सामवण्णो सउण्णो पसण्णो सुहो, आइ देवाण देवाहि पम्मा सुहो ॥ ३ ॥"

इस पद्यमें शनैश्चरचारका कुछ भी वर्णन न देकर सिर्फ उस विद्वान् राजाकी प्रशंसा की गई जो शनैश्चरचारके 'इस कथन' को जानता है। परन्तु इससे यह मालूम न हुआ कि शनैश्चरचारका वह कथन कौनसा है जिसका यहाँ 'इदं' (इस) शब्दसे ग्रहण किया गया है। क्योंकि अध्याय भरमें इस पद्यसे पहले या पीछे इस विषयका कोई भी दूसरा पद्य नहीं है जिससे इस 'इदं' शब्दका सम्बंध हो सके। इसलिए यह पद्य यहाँपर बिलकुल असम्बद्ध और अनर्थक मालूम होता है। ग्रंथकर्ताने इसे दूसरे खंडके 'शनैश्चर-चार' नामके १६ वें अध्यायसे उठाकर रक्खा है जहाँपर यह उक्त अध्यायके अन्तमें दर्ज है। इसी तरह पर ग्रहाचारसम्बन्धी अध्यायोंके प्रायः अन्तिम पद्य हैं और वहींसे उठाकर यहाँ रक्खे गये हैं। नहीं मालूम ग्रंथकर्ताने ऐसा करके अपनी मूर्खता प्रगट करनेके सिवाय और कौनसा लाभ निकाला है।

(ङ) पहले खंडमें 'प्रायश्चित्त' नामका दसवाँ अध्याय है। इस अध्यायके शुरूमें, पहले कुछ गद्य देकर 'इदं प्रायश्चित्तप्रकरणमारभ्यते' इस वाक्यके बाद, ये तीन पद्य दिये हैं; और इनके आगे बरतनोंकी शुद्धि आदिका कथन है:—

> यथाशुद्धि व्रतं धृत्वोपासकाचारसूचितम्।
> भोगोपभोगनियमं दिग्देशनियतिं तथा ॥ १ ॥
> अनर्थदंडविरतिं तथा नित्यं व्रतं क्रमात्।
> अर्हदादीन्नमस्कृत्य चरणं गृहमेधिनाम् ॥ २ ॥
> कथितं मुनिनाथेन श्रुत्वा तच्छ्रावयेदमून्।
> पायाद्यतिकुलं नत्वा पुनर्दर्शनमस्त्विति ॥ ३ ॥

इन तीनों पद्योंका अध्यायके पहले पिछले कथनसे प्रायः कुछ भी सम्बंध नहीं है। तीसरे पद्यका उत्तरार्ध भी शेष पद्योंके साथ असंगत जान पड़ता है। इसलिए ये पद्य यहाँपर असंबद्ध मालूम होते हैं। इनमें लिखा है कि-'उपासकाचारमें कहे हुए भोगोपभोगपरिमाण व्रतको

दिग्विरति, देशविरति तथा अनर्थदंडविरति नामके व्रतोंको और तैसे ही अन्य नित्यव्रतोंको क्रमशः यथाशक्ति धारण करके और अर्हंतादिकको-नमस्कार करके मुनिनाथने गृहस्थोंके चारित्रका वर्णन किया है। उसको सुनकर उन्हें सुनावे, रक्षा करे, यतिकुलको नमस्कार करके फिर दर्शन होवे, इस प्रकार।' इस कथनकी अन्य बातोंको छोड़कर, मुनिनाथने उपासकाचारमें कहे हुए श्रावकोंके व्रतोंको धारण किया, और वह भी पूरा नहीं, यथाशक्ति! तब कहीं गृहस्थोंके चारित्रका वर्णन किया, यह बात बहुत खटकती है और कुछ बनती हुई मालूम न होकर असमंजस प्रतीत होती है। जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे मुनीश्वरोंको श्रावकोंके व्रतोंके धारण करनेकी कोई जरूरत नहीं है। वे अपने महाव्रतोंको पालन करते हुए गृहस्थोंको उनके धर्मका सब कुछ उपदेश दे सकते हैं। नहीं मालूम ग्रंथकर्ताने कहाँ कहाँके पदोंको आपसमें जोड़कर यहाँ पर यह असमंजसता उत्पन्न की है। परन्तु इसे छोड़िए और एक नया दृश्य देखिए। वह यह है कि, इस अध्यायमें अनेक स्थानों पर कीड़ी, बीड़ा, ताम्बूल बीड़ा, खटीक, चमार, मोची, ढोहर, कोली, कंदी, जिमन, खाती, सोनार, ठठेरा, छीपी, तेली, नाई, डोंब, बुरुड और मनियार इत्यादि बहुतसे ऐसे शब्दोंका प्रयोग पाया जाता है जिनका हिन्दी आदि दूसरी भाषाओंके साथ सम्बंध है। संस्कृत ग्रंथमें संस्कृत वाक्योंके साथ इस प्रकारके शब्दोंका प्रयोग बहुत ही खटकता है और इनकी वजहसे यह सारा अध्याय बड़ा ही विलक्षण और बेढंगा मालूम होता है। नमूनेके तौर पर ऐसे कुछ वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

१—" चांडालकलालचमारमोचीडोहरयोगिकोलीकंदीनां गृहे जिमन-इतर-समाचारं करोति तस्य प्रायश्चित्त...मोकलाभिषेकाः विंशति...बीड़ा १०० । "

२—" अष्टादशप्रकारजातिमध्ये सालिमालीतेलीतंबीसूत्रधार-खातीसोनार-ठठेराकुंभकारपरोथटछीपीनाई-डोंवबुरुडगणीमनी यारचित्रकार इत्यादयः प्रकारा एतेषां

गृहे भुंक्ते समाचारं करोति तस्य प्रायश्चित्तं उपवासा ९, एकभक्तानि ३ ...... ताम्बूल वीड़ा ४०० ।

मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताने यह सब कथन किसी ऐसे ही खिचड़ी ग्रंथसे उठाकर रक्खा है और उसे इसको शुद्ध संस्कृतका रूप देना नहीं आया। इससे पाठक ग्रंथकर्ताकी संस्कृतसम्बंधिनी योग्यताका भी बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं। इस तरह पर यह ग्रंथ इधर उधरके प्रकरणोंका एक बेढंगा संग्रह है। ग्रंथकर्ता यह सब संग्रह कर तो गया, परन्तु मालूम होता है कि बादको किसी घटनासे उसे इस बातका भय जरूर हुआ है कि कहीं मेरी यह सब पोल सर्वसाधारण पर खुल न जाय। और इस लिए उसने इस ग्रंथ पर, अपने अन्तिम वक्तव्यमें, यह आज्ञा चढ़ा दी है कि, 'यह संहिता (भट्टारककी गद्दी पर बैठनेवाले) आचार्यके सिवाय और किसीको भी न दी जाय। मिथ्यादृष्टि और मूढ़ात्माको देनेसे लोप हो जायगा। आगेके लोग पक्षपाती होंगे। यह संहिता सम्यकूदृष्टि महासूरि (भट्टारक) के ही योग्य है, दूसरेके योग्य नहीं है।' यथाः—

> संहितेयं तु कस्यापि न देया सूरिभिर्विना ॥ १५ ॥
> मिथ्यात्विने च मूढाय दत्ता धर्मं विलुंपति ।
> पक्षपातयुताश्चाग्रे भविष्यंति जनाः खलु ॥ १६ ॥
> एषा महामंत्रयुता सुप्रभावा च संहिता ।
> सम्यग्दशो महासूरेर्योग्येयं नापरस्य च ॥ १७ ॥

पाठकगण ! देखा, कैसी विलक्षण आज्ञा है ! धर्मके लोप हो जानेका कैसा अद्भुत सिद्धान्त है ! कैसी अनोखी भविष्यद्वाणी की गई है ! और किस प्रकारसे ग्रंथकर्ताने अपने मिथ्यात्व, मूढ़ता और पक्षपात पर परदा डालनेके लिए दूसरोंको मिथ्यादृष्टि, मूढ़ और पक्षपाती ठहराया है ! ! साम्प्रदायिक मोह और बेशरमीकी भी हद हो गई ! ! ! परन्तु कुछ भी हो, इस आज्ञाका इतना परिणाम जरूर निकला है कि समाजमें इस

संहिताका अधिक प्रचार नहीं हो सका। और यह अच्छा ही हुआ। अब जो लोग इस संहिताका प्रचार करना चाहते हैं, समझना चाहिए कि, वे ग्रंथकर्ताके उक्त समस्त कूट, जाल और अयुक्ताचरणके पोषक तथा अनुमोदक ही नहीं बल्कि भद्रबाहुश्रुतकेवलीकी योग्यता और उनके पवित्र नामको बट्टा लगानेवाले हैं। अगले लेखमें, विरुद्ध कथनोंका उल्लेख करते हुए, यह भी दिखलाया जायगा कि ग्रंथकर्ताने इस संहिताके द्वारा अपने किसी कुत्सित आशयको पूरा करनेके लिए लोगोंको मार्गभ्रष्ट (गुमराह) और श्रद्धानभ्रष्ट करनेका कैसा नीच प्रयत्न किया है।

२५-११-१६.

(३)

इस ग्रंथमें निमित्त और ज्योतिष आदि संबंधी फलादेशका जो कुछ वर्णन है यदि उस सब पर बारीकीके साथ–सूक्ष्म-दृष्टिसे–विचार किया जाय और उसे सिद्धान्तसे मीलान करके दिखलाया जाय, तो इसमें संदेह नहीं, कि विरुद्ध कथनोंके ढेरके ढेर लग जायँ। परन्तु जैन-समाज अभी इतने बारीक तथा सूक्ष्म विचारोंको सुनने और समझनेके लिए तैयार नहीं है, और न एक ऐसे ग्रंथके लिए इतना अधिक प्रयास और परिश्रम करनेकी कोई जरूरत है, जो पिछले लेखों द्वारा बहुत स्पष्ट शब्दोंमें विक्रम संवत् १६५७ और १६६५ के मध्यवर्ती समयका बना हुआ ही नहीं बल्कि इधर उधरके प्रकरणोंका एक बेढंगा संग्रह भी सिद्ध किया जा चुका है। इस लिए आज इस लेखमें, फलादेश-सम्बंधी सूक्ष्म विचारोंको छोड़कर, बहुत मोटेरूपसे विरुद्ध कथनोंका दिग्दर्शन कराया जाता है। जिससे और भी जैनियोंकी कुछ थोड़ी बहुत आँखें खुलें, उनका साम्प्रदायिक मोह टूटे और उनकी अंधी श्रद्धा दूर होकर उनमें सदसद्विवेकवती बुद्धिका विकाश हो सके:—

पूर्वापर विरुद्ध ।

(१) पहले खंडके तीसरे अध्यायमें, दंडके स्वरूपका वर्णन करते हुए, लिखा है कि:—

" हा-मा-धिक्कारभेदश्च वाग्दंडः प्रथमो मतः ।
द्वितीयो धनदंडश्च देहदंडस्तृतीयकः ॥ २४२ ॥
तुरीयो ज्ञातिदंडश्च देयाः कृत्यानुसारतः ।
दोषानुसारतश्चैव चतुर्वर्णेभ्य एव च ॥ २४३ ॥
आद्यश्रीआदिदेवेन प्रथमो दंड उध्दृतः ।
वासुपूज्यो द्वितीयं च तृतीयं षोडशस्तथा ॥ २४४ ॥
तुरीयं वर्धमानस्तु प्रोक्तवानद्य पंचमे ।
काले दोषानुसारेण दीयंते सर्वभूमिपैः ॥ २४५ ॥

अर्थात्—दंड चार प्रकारका होता है । पहला वाग्दंड, जिसके हा, मा, और धिक्कार ऐसे तीन भेद हैं; दूसरा धनदंड, तीसरा देहदंड (वध-बन्धादिरूप) और चौथा ज्ञातिदंड (जातिच्युतादिरूप) । ये सब दंड अपराधों और कृत्योंके अनुसार चारों ही वर्णोंके लिए प्रयुक्त किये जानेके योग्य हैं । इनमेंसे पहले दंडके प्रणेता भगवान् श्रीआदिनाथ (ऋषभदेव), दूसरेके भगवान् वासुपूज्य, तीसरेके १६ वें तीर्थंकर श्रीशांतिनाथ और चौथे दंडके प्रणेता श्रीवर्धमान स्वामी हुए हैं । आजकल पाँचवें कालमें संपूर्ण राजाओंके द्वारा ये सभी दंड अपराधोंके अनुसार प्रयुक्त किये जाते हैं । इस कथनसे ऐसा सूचित होता है कि, तीसरे कालके अन्तसे प्रारभं होकर, चतुर्थ कालमें यह चार प्रकारका दंडविधान उपर्युक्त अलग अलग तीर्थंकरोंके द्वारा संसारमें प्रवर्तित हुआ है । परन्तु वास्तवमें ऐसा हुआ या नहीं, यह अभी निर्णयाधीन है और उस पर विचार करनेका इस समय अवसर नहीं है । यहाँ पर मैं सिर्फ इतना बतला देना जरूरी समझता हूँ कि दंडप्रणयन-संबन्धी यह सब

कथन ऐतिहासिक दृष्टिसे कुछ सत्य प्रतीत नहीं होता । श्रीगुणभद्राचार्यकृत महापुराण (उत्तरपुराण) में या उससे पहलेके बने हुए किसी माननीय प्राचीन जैनग्रंथमें भी इसका कोई उल्लेख नहीं है । हाँ, भगवज्जिनसेन प्रणीत आदिपुराणमें इतना कथन जरूर मिलता है कि ऋषभदेवने हा-मा-धिकार लक्षणवाला वह वाचिक दंड प्रवर्तित किया था जिसको उनसे पहलेके कुलकर (मनु) जारी कर चुके थे; और इस लिए जो उनके अवतारसे पहले ही भूमंडल पर प्रचलित था। साथ ही, उक्त ग्रंथमें यह भी लिखा हुआ मिलता है कि ऋषभदेवके पुत्र भरत चक्रवर्तीने वध-बन्धादिलक्षणवाले शारीरिक दंडकी भी योजना की थी *। जिससे पौराणिक दृष्टिकी अपेक्षा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तीसरे शारीरिक दंडका प्रणयन शान्तिनाथसे बहुत पहले प्रायः ऋषभदेवके समयमें ही हो चुका था। यहाँ पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि आदिपुराणका यह सब कथन संहिताके 'केवल काल' नामक ३४ + वें अध्यायमें भी पाया जाता है । परन्तु इन सब बातोंको छोड़िए, और संहिताके इस निम्न वाक्य पर ध्यान दीजिए, जिसमें उक्त कथनसे आगे अपराधोंके चार विभाग करके प्रत्यकेके दंड विधानका नियम बतलाते हुए लिखा है कि—'व्यवहारमें वाग्दंड, चोरीके काममें धनदंड, बालहत्यादिकमें देहदंड और धर्मके लोपमें ज्ञाति दंडका प्रयोग होना चाहिए।' यथा:—

---

* यथाः—

शारीरं दंडनं चैव वध-बन्धादिलक्षणम्।
नृणां प्रबलदोषेण भरतेन नियोजितम् ॥—२१६ ॥

+ जिसका एक पद्य इस प्रकार है:- "हामाधिग्नीतिमार्गोक्तोऽस्य पुत्रो भरतोऽग्रजः । चक्री कुलकरो जातो वध-बन्धादिदंडभृत् ॥ १२० ॥"

१ इस अध्यायकी शब्दरचनासे मालूम होता है कि वह प्रायः आदिपुराण परसे उसे देखकर बनाया गया है ।

" व्यवहारे तु प्रथमो द्वितीयः स्तैन्यकर्मणि ।
तृतीयो बालहत्यादौ धर्मलोपेऽन्तिमः स्मृतः ॥ २४७ ॥"

दंडविधानका यह नियम जगत्का शासन करनेके लिए कहाँ तक समुचित और उपयोगी है, इस विचारको छोड़कर, जिस समय हम इस नियमको सामने रखते हुए इसी खंडके अगले दंडविधान-संबंधी अध्यायोंका पाठ करते हैं उस समय मालूम होता है कि ग्रंथकर्ता महाशयने स्थान स्थान पर स्वयं ही इस नियमका उल्लंघन किया है। और इस लिए उनका यह संपूर्ण दंड-विषयक कथन पूर्वापर-विरोध-दोषसे दूषित है। साथ ही, श्रुतकेवली जैसे विद्वानोंकी कीर्तिको कलंकित करनेवाला है। उदाहरणके तौर पर यहाँ उसके कुछ नमूने दिखलाये जाते हैं:—

" हामाकारौ च दंडोऽन्यैः पंचभिः सम्प्रवर्तितः ।
पंचाभिस्तु ततः शेषैर्हामाधिक्कारलक्षणः ॥ ३–२१५ ॥

" कूपाद्रज्जुं घटं वस्त्रं यो हरेत्स्तैन्यकर्मणा ।
कशाविंशतिभिस्ताड्यः पुनर्ग्रामाद्विवासयेत् ॥ ७-१२ ॥

इस पद्यमें कुएँ परसे रस्सी, घड़ा तथा वस्त्र चुरानेवालेके लिए २० चाबुकसे ताड़ित करने और फिर ग्रामसे निकाल देनेकी सजा तजवीज की गई है। पाठक सोचें, यह सजा पहले नियमके कितनी विरुद्ध है और साथ ही कितनी अधिक सख्त है ! उक्त नियमानुसार चोरीके इस अपराधमें धनदंड (जुर्माना) का विधान होना चाहिए था, देहदंड या निर्वासनका नहीं।

" कुलीनानां नराणां च हरणे बालकन्ययोः ।
तथानुपमरत्नानां चौरो बंदिग्रहं विशेत् ॥ ७-१६ ॥

येन यज्ञोपवीतादिकृते सूत्राणि यो हरेत् ।
संस्कृतानि नृपस्तस्य मासैकं बंधके न्यसेत् ॥ २४ ॥

इन दोनों पद्योंमें चोरके लिए वंदिग्रह (जेलखाना) की सजा बतलाई गई है। पहले पद्यमें यह सजा कुलीन मनुष्यों, बालक-बालिकाओं और उत्तम रत्नोंको चुरानेके अपराधमें तजवीज की गई है। दूसरे पद्यमें लिखा है कि जो यज्ञोपवीत (जनेऊ) आदिके लिए संस्कृत किये हुए सूतके डोरोंको चुराता है, राजाको चाहिए कि उसे एक महीने तक कैदमें रक्खे। चोरीके काममें धनदंडका विधान न करके यह दंड तजवीज करना भी उपयुक्त नियमके विरुद्ध है।

" केशान् ग्रीवां च वृषणं क्रोधाद्गृह्णाति यः शठः।
दंड्यते स्वर्णनिष्केण प्राणिघाताभिलोलुपः ॥ ६-२० ॥
त्वग्भेत्ता तु शतैर्दंड्यः ब्राह्मणोऽसृक्प्रच्यावने।
शतद्वयेन दंड्यः स्यात्तुर्यैर्मांसापकर्षकः ॥ -२१ ॥

इन दोनों पद्योंमें प्राणिघातकी इच्छासे क्रोधमें आकर दूसरेके केश, गर्दन और अंडकोश पकड़नेवाले व्यक्तिको, तथा त्वचाका भेद करनेवाले, रक्तपात करनेवाले और मांस उखाड़नेवाले ब्राह्मणको शारीरिक दंडका विधान न करके धनदंडका विधान किया गया है। यह भी उपर्युक्त नियमके विरुद्ध है। इसके आगे तीन पद्योंमें, उद्यानको जाते हुए किसी वृक्षकी छाल, दंड, पत्र या पुष्पादिकको तोड़ डालने अथवा नष्ट कर डालनेके अपराधमें धनदंडका विधान न करके ' प्रवास्यो वृक्षभेदकः ' इस पदके द्वारा वृक्ष तोड़ डालनेवालेके लिए देशसे निकाल देनेकी सजा तजवीज की है। यह सजा उपर्युक्त नियमसे कहाँ तक सम्बंध रखती है, इसे पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

" वैश्यः शूद्रोऽथवा काष्टधातुनिर्मित आसने।
क्षत्रियद्विजयोर्मोहाद्दर्पाच्चोपविशेत्तदा ॥ ६-१७ ॥
कशाविंशतिभिर्वैश्यः पंचाशद्भिश्च ताड्यते।
शूद्रः पुनस्तु सता-(?) मासनं कोऽपि न श्रयेत् ॥-१८ ॥

दृष्ट्वा महान्तं यो दर्पान्निष्ठीवति हसेच्च वा ।
चतुर्वर्णेषु यः कश्चिद्दंड्यते दश राजतैः ॥-१९॥"

इन पद्योंमेंसे पहले दो पद्योंमें लिखा है कि 'यदि क्षत्रिय तथा ब्राह्मणके आसन पर कोई वैश्य अथवा शूद्र बैठ जाय तो वैश्यको २० और शूद्रको ५० चाबुककी सजा देनी चाहिए! तीसरे पद्यमें किसी भी वर्णके उस व्यक्तिके लिए धनदंडका विधान किया गया है जो किसी महान् पुरुषको देखकर हँसता है अथवा घृणा प्रकाश करने रूप थूकता है। उपर्युक्त नियमानुसार इन दोनों प्रकारके कृत्योंके लिए यदि कोई दंडविधान हो सकता था तो वह सिर्फ वाग्दंड था। क्योंकि आसन पर बैठने और हँसने आदि कृत्योंका चोरी आदि अपराधोंमें समावेश नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ पर ऐसा विधान नहीं किया गया; इस लिए यह कथन भी पूर्वापर-विरोध-दोषसे दूषित है।

" मूर्खैः सारथिरेव स्याद्युग्यस्था दंडभागिनः ।
भूपः पणशतं लात्वा हानिमीशं च दापयेत्॥ ६--३५ ॥

इस पद्यमें, मूर्ख गाड़ीवानके कारण गाड़ीसे किसीको हानि पहुँचने पर, गाड़ीमें बैठे हुए उन स्त्री-पुरुषोंको भी धनदंडका पात्र ठहराया है जो बेचारे उस गाड़ीके स्वामी नहीं है और न जिनको उक्त गाड़ीवानके मूर्ख या कुशल होनेका कोई ज्ञान है। समझमें नहीं आता कि उक्त नियमके अनुसार गाड़ीमें बैठे हुए ऐसे मुसाफिरोंको कौनसे अपराधका अपराधी माना जाय? अस्तु; इस प्रकारके विरुद्ध कथनोंसे इस ग्रंथके कई अध्याय भरे हुए हैं। मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताको इधर उधरसे वाक्योंको उठाकर रखनेमें आगे पीछेके कथनोंका कुछ भी ध्यान नहीं रहा; और इससे उसका यह संपूर्ण दंड-विषयक कथन कुछ अच्छा व्यापक और सिलसिलेवार भी नहीं बन सका।

(२) दूसरे खंडके 'उत्पात' नामक १४ वें अध्यायमें लिखा है कि, यदि बाजे विना बजाये हुए स्वयं बजने लगें और विकृत रूपको धारण करें तो कहना चाहिए कि छठे महीने राजा बद्ध होगा (बंदिगृहमें पड़ेगा) और अनेक प्रकारके भय उत्पन्न होंगे । यथाः—

" अनाहतानि तूर्याणि नदन्ति विकृतिं यथा ।
षष्ठे मासे नृपो बद्धो भयानि च तदा दिशेत् ॥१६५॥

परंतु तीसरे खंडके ' ऋषिपुत्रिका ' नामक चौथे अध्यायमें इसी उत्पातका फल पाँचवें महीने राजाकी मृत्यु होना लिखा है। यथाः-

" अह णंदितूरसंखा वज्जंति अणाहया विफुट्टंति ।
अह पंचमम्मि मासे णरवइमरणं च णायव्वं ॥ ९३ ॥ *

इससे साफ प्रगट है कि ये दोनों पद्य पूर्वापरविरोधको लिये हुए हैं और इस लिए इनका निर्माण किसी केवली द्वारा नहीं हुआ। साथ ही, इससे यह भी सूचित होता है कि ये दोनों पद्य ही नहीं बल्कि संभवतः ये दोनों अध्याय ही भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा रचे गये हैं ।

(३) भद्रबाहुसंहिताके ' चंद्रचार ' नामक २३ वें अध्यायमें लिखा है कि ' श्वेत, रक्त, पीत तथा कृष्ण वर्णका चंद्रमा यथाक्रम अपने वर्णवालेको (क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको) सुखका देनेवाला और विपरीत वर्णके लिए भयकारी होता है । यथाः—

श्वेतो रक्तश्च पीतश्च कृष्णश्चापि यथाक्रमं ॥
सवर्णे सुखदश्चन्द्रो विपरीतं भयावहः ॥ १६ ॥

परन्तु तीसरे खंडके उसी ' ऋषिपुत्रिका ' नामके चौथे अध्यायमें यह बतलाया है कि ' समानवर्णका चंद्रमा समान वर्णवालेको भय और

---

* संस्कृतच्छायाः—

' अथ नंदितूरशंखा नदन्ति अनाहताः स्फुटंति ।
अथ पंचमे मासे नरपतिमरणं च ज्ञातव्यं ॥ ९३ ॥

पीड़ाका देनेवाला होता है ' ' कृष्ण चंद्रमा शूद्रोंका विनाश करता है '
यथा:—

" समवण्णो समवण्णं भयं च पीडं तहा णिवेदेहि।
लक्खारसप्पयासो कुणदि भयं सव्वदेसेसु ॥ ३६ ॥
किण्हो सुद्दविणासइ .... चंदो ॥ ३८ ॥

चंद्रफलादेश-सम्बंधी यह कथन पहले कथनके बिल्कुल विरुद्ध है—वह सुख होना कहता है तो यह दुःख होना बतलाता है—समझमें नहीं आता कि ऐसी हालतमें कौन बुद्धिमान् इन कथनोंको केवली या श्रुत-केवलीके वाक्य मानेगा ? वास्तवमें ऐसे पूर्वापर-विरुद्ध कथन किसी भी केवलीके वचन नहीं हो सकते। अस्तु। ये तो हुए पूर्वापर-विरुद्ध कथनोंके नमूने। अब आगे दूसरे प्रकारके विरुद्ध कथनोंको लीजिए।

मिथ्या क्रियायें।

(४) संहिताके द्वितीय खंड-विषयक अध्याय नं० २७ में लिखा है कि ' प्रीति ' और ' सुप्रीति ' ये दो क्रियायें पुत्रके जन्म होने पर करनी चाहिए। साथ ही, जन्मसे पहले ' **पुंसवन** ' और ' **सीमन्त** ' नामकी दूसरी दो क्रियाओंके करनेका भी विधान किया है। यथा:—

" गर्भस्य त्रितये मासे व्यक्ते पुंसवनं भवेत्।
गर्भे व्यक्ते तृतीये चेच्चतुर्थे मासि कारयेत् ॥ १३९ ॥
अथ षष्ठाष्टमे मासि सीमन्तविधिरुच्यते।
केशमध्ये तु गर्भिण्याः सीमा सीमन्तमुच्यते॥ १४२ ॥
पुत्रस्य जन्मसंजातौ प्रीतिसुप्रीतिके क्रिये।
प्रियोद्भवश्च सोत्साहः कर्तव्यो जातकर्मणि ॥ १४९ ॥

परन्तु भगवज्जिनसेनप्रणीत आदिपुराणमें गर्भाधानसे निर्वाण पर्यंत ५३ क्रियाओंका वर्णन करते हुए, जिनमें उक्त ' पुंसवन ' और 'सीमन्त'

---

१ गर्भवतीके केशोंकी रचना-विशेष माँग उपाड़ना

नामकी क्रियायें नहीं, हैं, लिखा है कि 'प्रीति' क्रिया गर्भसे तीसरे महीने और सुप्रीति क्रिया पाँचवे महीने करनी चाहिए। साथ ही, यह भी लिखा है कि उक्त ५३ क्रियाओंसे भिन्न जो, दूसरे लोगोंकी मानी हुई, गर्भसे मरण तककी क्रियायें हैं वे सम्यक् क्रियायें न होकर मिथ्या क्रियायें समझनी चाहिए। यथाः—

" गर्भाधानात्परं मासे तृतीये संप्रवर्तते।
प्रीतिर्नामि क्रिया प्रीतैर्याऽनुष्टेया द्विजन्मभिः ॥ ३८-७७
आधानात्पंचमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते।
या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥—८० ॥
क्रिया गर्भादिका यास्ता निर्वाणान्ताः पुरोदिताः।
आधानादिश्मशानान्ता न ताः सम्यक्क्रिया मताः ३९-२५ ॥

इससे साफ जाहिर है कि संहिताका उक्त कथन आदिपुराणके कथनसे विरुद्ध है। और उसकी 'पुंसवन' तथा 'सीमंत' नामकी दोनों क्रियायें भगवज्जिनसेनके वचनानुसार मिथ्या क्रियायें हैं। वास्तवमें ये दोनों क्रियायें हिन्दू धर्मकी क्रियायें (संस्कार) हैं। हिन्दुओंके धर्मग्रंथोंमें इनका विस्तारके साथ वर्णन पाया जाता है। पुंसवन सम्बंधी क्रियाका अभिप्राय उनके यहाँ यह माना जाता है कि इसके कारण गर्भिणीके गर्भसे लड़का पैदा होता है। परन्तु जैनसिद्धान्तके अनुसार, इस प्रकारके संस्कारसे, गर्भमें आई हुई लड़कीका लड़का नहीं बन सकता। इस लिए जैनधर्मसे इस संस्कारका कुछ सम्बंध नहीं है।

दंडमें मुनि-भोजन-विधान।

(५) इस संहिताके प्रथम खंडमें 'प्रायश्चित्त' नामका एक अध्याय है, जिसके दो भाग हैं—पहला पद्यभाग और दूसरा गद्यभाग।

पद्यभागमें, व्यभिचारका दंड-विधान करते हुए, एक स्थान पर ये चार पद्य दिये हैंः—

"माता मातानुजा ज्येष्ठा लिंगिनी भगिनी स्नुषा ।
चाण्डाली भ्रातृपत्नी च मातुली गोत्रजाथवा ॥ २८ ॥
सकृद्भ्रान्त्याथ दर्पाद्वा सेविता दुर्जनेरिता ।
प्रायश्चित्तोपवासाः स्युस्त्रिंशत्तच्छीर्षमुंडनम् ॥ २९ ॥
तीर्थयात्राश्च पंचैव महाभिषेकपूर्वकम् ॥
कृत्वा नित्यार्चनायाश्च क्षेत्रं घंटां वितीर्य च ॥ ३० ॥
भोजयेन्मुनिमुख्यानां संघं द्विशतसंमितं ।
वस्त्राभरणताम्बूलभोजनैः श्रावकान् भजेत् ॥ ३१ ॥

इन पद्योंमें लिखा है कि यदि एक बार भ्रमसे अथवा जान बूझकर अपनी माता, माताकी छोटी बड़ी बहिन, लिंगिनी (आर्यिकादिक), बहिन, पुत्रवधू, चांडाली, भाईकी स्त्री, मामी अथवा अपने गोत्रकी किसी दूसरी स्त्रीका सेवन हो जाय तो उसके प्रायश्चित्तमें तीस उपवास करने चाहिए, उस स्त्रीका सिर मूँड़ना चाहिए, महाभिषेक पूर्वक पाँच तीर्थ-यात्रायें करनी चाहिए, नित्यपूजनके लिए भूमि तथा घंटा वितरण करना चाहिए। और यह सब कर चुकनेके बाद, **प्रधान मुनियोंके दोसे संख्या प्रमाण संघको भोजन खिलाना चाहिए**। साथ ही, श्रावकोंको वस्त्राभूषण, ताम्बूल और भोजनसे संतुष्ट करना चाहिए। इस दंडविधानमें, अन्य बातोंको छोड़कर, दोसो मुनियोंको भोजन करानेकी बात बड़ी ही विलक्षण है। जैनियोंके चरणानुयोग तथा प्राचीन यत्याचार-विषयक ग्रंथोंसे इसका जरा भी मेल नहीं है। जिन जैन मुनियोंके विषयमें लिखा है कि वे उद्गमादिक छ्यालीस दोषों तथा ३२ अंतरायोंको टालकर शुद्ध आहार लेते हैं, किसीका निमंत्रण स्वीकार नहीं करते और यह मालूम हो जाने पर, कि भोजन उनके उद्देश्यसे तैयार किया

गया है, दातारके घरसे वापिस चले जाते हैं उनके लिए दंड स्वरूपमें प्रस्तुत किया हुआ और खास उन्हींके उद्देश्यसे तैयार किया हुआ इस प्रकारका भोजन कभी विधेय नहीं हो सकता। इस लिए दंड विधानका यह नियम जैनधर्मकी नीतिके विरुद्ध है। साथ ही, इसका अनुष्ठान भी प्रायः अशक्य जान पड़ता है। बहुत संभव है कि इस दंड-विधानमें उस समयके भट्टारकोंका, जो अपने आपको मुनिमुख्य मानते थे और जिनका थोड़ा बहुत परिचय इस लेखमें आगे चलकर दिया जायगा, कुछ स्वार्थ छिपा हुआ हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, यह कथन जैनधर्मकी दृष्टिसे विरुद्ध अवश्य है। जैनधर्मके प्रायश्चित्त ग्रंथोंमें श्रीनन्दनन्द्याचार्यके शिष्य गुरुदासाचार्यका बनाया हुआ 'प्रायश्चित्तसमुच्चय' नामका एक प्राचीन ग्रंथ है। इस ग्रंथकी चूलिकामें उक्त प्रकारके अपराधका प्रायश्चित्त सिर्फ ३२ उपवास प्रमाण लिखा है। यथाः—

" सुतामातृभगिन्यादिचाण्डालीरभिगम्य च।
अब्रुवीतोपवासानां द्वात्रिंशतमसंशयम्॥ १५०॥

इससे मालूम होता है कि संहिताके उपर्युक्त दंड-विधानमें उपवासोंको छोड़कर शेष मुंडन, तीर्थयात्रा, महाभिषेक, पूजनके लिए भूम्यादि अर्पण और मुनिभोजनादिका संपूर्ण विधान सिर्फ दो उपवासोंके स्थानमें प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, दंडक्षेत्र विस्तृत करनेके लिए इसमें कुछ अधिकार वृद्धि भी पाई जाती है। पाठक देखें और सोचें कि, यह सब कथन प्रायश्चित्तसमुच्चयके कथनसे कितना असंगत और विरुद्ध है। इस प्रकारका और भी बहुतसा कथन इस अध्यायमें पाया जाता है।

पद्यमें कुछ और गद्यमें कुछ।

(६) साथ ही, इस अध्यायमें कुछ दंड-विधान ऐसा भी देखनेमें आता है जो पद्यमें कुछ है तो गद्यमें कुछ और है। अर्थात् एक ही अपरा-

घके लिए दोनों भागोंमें भिन्न भिन्न प्रकारका दंडप्रयोग किया गया है। और जो इस बातको भी सूचित करता है कि ये दोनों भाग किसी एक व्यक्तिके बनाये हुए नहीं हैं । इस प्रकारके कथनोंका एक नमूना इस प्रकार है:—

" गर्वान्मांसं च मद्यं च क्षौद्रं सेवितवानसौ ।
एकशः क्षपणं तस्य विंशत्यभ्यधिकं शतम् ॥ २२ ॥
प्रमादादुपवासाः स्युर्विंशतिर्दोषहानये । "

इस डेढ़ पद्यमें गर्वसे मद्य, मांस और मद्य नामक तीन मकारोंके सेवनका प्रायश्चित्त १२१ उपवास प्रमाण और प्रमादसे उनके सेवनका प्रायश्चित्त सिर्फ २० उपवास प्रमाण लिखा है। अब गद्य भागको देखिए:—

" मकारत्रयसेवितस्य प्रायाश्चित्तं विधेत-उपवासा द्वादश १२, अभिषेकाः पंचाशत् ५०, आहारदानानि पंचाशत् ५०, कलशाभिषेक एकः १, पुष्पसहस्रचतुर्विंशतिः २४०००, तीर्थयात्रा द्वे २, गंधं पलचतुष्टयं ४, संघपूजा, गद्याण ? त्रय सुवर्णं ३, वीटिका शतमेकं, कायोत्सर्गाश्चतुर्विंशतिः । यदि प्रमादतः मकारत्रयसेविता उपवासषट्कं ६, एकभक्ताष्टकं, पंचविंशत्याहारदानानि २५, पंचविंशतिरभिषेकाः २५, पुष्पसहस्राणि पंच ५०००, गंधं पलद्वयं २, पूजा द्वादश १२, ताम्बूलवीटक-पंचाशत् ५०, कायोत्सर्गा द्वादश १२॥ "

यह कथन पहले कथनसे कितना विलक्षण है, इसे बतलानेकी जरूरत नहीं है। पाठक एक नजर डालते ही स्वयं मालूम कर सकते हैं । हाँ प्रायश्चित्त-समुच्चयका इस विषयमें क्या विधान है ? यह बतला देना जरूरी है। और वह इस प्रकार है:—

" रेतोमूत्रपुरीषाणि मद्यमांसमधूनि च ।
अभक्ष्यं भक्षयेत्षष्ठं दर्पतश्च द्विषट् क्षमाः ॥१४७॥

इसमें दर्पसे मद्य, मांस और मधुके सेवनका प्रायश्चित्त बारह उपवास प्रमाण बतलाया है और प्रमादसे उनका सेवन होनेमें 'षष्ठ' नामका प्रायश्चित्त तजवीज किया है, जो तीन उपवास प्रमाण होता है।

सबके लिए एक ही दंड।

(७) उक्त 'प्रायश्चित्त' नामके अध्यायमें ब्रह्महत्या, गोहत्या, स्त्रीहत्या, बालहत्या और सामान्य मनुष्यहत्या, इन सब हत्याओंमेंसे प्रत्येक हत्या करनेवालेके लिए एक ही प्रकारका दंड तजवीज किया गया है। यथा:—

'ब्रह्महत्या-गोहत्या-स्त्रीहत्या-बालहत्या-सामान्य-
मनुष्यहत्यादि,-करणे प्रायश्चित्तं उपवासाः त्रिंशत् ३०,
एकभक्तानि पंचाशत् ५०, कलशाभिषेकौ द्वौ।

परन्तु जैनधर्मकी दृष्टिसे इन सभी अपराधोंके अपराधी एक ही दंडके पात्र नहीं हो सकते। प्रायश्चित्तसमुच्चयकी चूलिकामें भी गोहत्यासे स्त्रीहत्या, स्त्रीहत्यासे बालहत्या, बालहत्यासे श्रावक-हत्या और श्रावकहत्यासे साधुहत्याका प्रायश्चित्त उत्तरोत्तर अधिक बतलाया है। यथा:—

"साधूपासकबालस्त्रीधेनूनां घातने क्रमात्।
यावद्द्वादश मासाः स्यात्षष्ठमर्धार्धहानियुक् ॥ ११ ॥+

ऐसी हालतमें संहिताका सबके लिए उपर्युक्त एक ही प्रकारका दंड-विधान करना जैनधर्मकी दृष्टिके अनुकूल प्रतीत नहीं होता।

प्रायश्चित्त या अन्याय।

(८) इसी प्रायश्चित्ताध्यायमें गृहस्थोंके लिए बहुतसा ऐसा दंड-विधान भी पाया जाता है जो आकस्मिक घटनाओंसे होनेवाली मृत्युओंसे सम्बंध

× इस पद्यमें मुनियों द्वारा ऐसी हत्या हो जाने पर उनके लिए प्रायश्चित्तका विधान किया है। श्रावकोंके लिए इससे कमती प्रायश्चित्त है। परन्तु वह भी उत्तरोत्तर इसी क्रमको लिये हुए है। जैसा कि उक्त चूलिकाके इस पद्यसे प्रगट है:—

"श्रमणच्छेदनं यच्च श्रावकानां तदेव हि।
द्वयोरपि त्रयाणां च षण्णामर्धार्धहानितः ॥ १३७ ॥

रखता है। जैसे साँप विच्छू आदिसे डसा जाना, व्याघ्र आदिसे भक्षित होना, वृक्ष या मकान परसे गिरजाना, मार्गमें जाते हुए ठोकर खाकर गिर पड़ना, वज्रपातका होना, सींगवाले पशुका सींग लग जाना और स्त्रीके प्रसवका होना आदि। इन सब कारणोंमेंसे किसी भी कारणसे जो आकस्मिक मृत्यु होती है उसके लिए यह दंड-विधान किया गया है:—

" प्रायश्चित्तं—उपवासाः ५, एकभक्तानि विंशतिः २०, कलशाभिषेकद्वयं २, पंचामृताभिषेकाः ५, लघ्वभिषेकाः पंचविंशतिः, आहारदानानि चत्वारिंशत्, गावौ द्वे २, गंधपला १०, पुष्पसहस्र १०००, संघपूजा-नाद्याण (?) द्वयं, तीर्थयात्रा-कायोत्सर्गाः ६, वीटिका ताम्बूल ५० । "

परन्तु इस दंडका पात्र कौन है ? किसको इसका अनुष्ठान करना होगा ? यह सब यहाँ कुछ भी नहीं बतलाया गया। जो शख्स मर चुका है उसके लिए तो यह दंड-विधान हो नहीं सकता। इस लिए जरूर है कि मृतकके किसी कुटुम्बीके लिए यह सब दंड तजवीज किया गया है। परन्तु उस बेचारेने कोई अपराध नहीं किया और न मृतकका हि इसमें कोई अपराध था। विना अपराधके दंड देना सरासर अन्याय है। इस लिए कहना पड़ता है कि यह प्रायश्चित्त नहीं बल्कि अन्याय और अधर्म है; श्रुतकेवली जैसे विद्वानोंका यह कर्म नहीं हो सकता। जरूर इसमें किसीका स्वार्थ छिपा हुआ है। गंध, फूल और पानोंके बीड़ों आदिको छोड़कर यहाँ पाठकोंके सन्मुख दो गाय भी उपस्थित हैं। ये भी दंडमें किसीको दान स्वरूप भेंट की जायँगीं। यद्यपि जैनधर्ममें गौ-दानकी कोई महिमा नहीं है और न उसके देनेसे किसी पापकी कोई शांतिका होना माना जाता है। प्रत्युत अनेक जैनग्रंथोंमें इस दानको निषिद्ध जरूर लिखा है*।

---

* यथाः— यया जीवा हि हन्यन्ते पुच्छशृंगखुरादिभिः ॥ ९–५४ ॥
यस्यां च दुह्यमानायां तर्णकः पीड्यते तरं ।
तां गां वितरता श्रेयो लभ्यते न मनागपि ॥-५५॥"
—इति अमितगत्युपासकाचारः ।

तो भी उमास्वामिश्रावकाचार जैसे जाली ग्रंथोंमें[1] जिनमंदिरके लिए गौ-दान करनेका विधान जरूर पाया जाता है, जिससे अर्हद्भट्टारकके लिए रोजाना शुद्ध पंचामृत तैयार हो सके*। आश्चर्य नहीं कि ऐसे ही किसी आशयसे प्रेरित होकर, उसकी पूर्तिके लिए, उपर्युक्त दंड-विधानमें तथा इसी ग्रंथके अंतर्गत और भी बहुतसे दंडप्रयोगोंमें गो-दानका विधान किया गया हो। अस्तु इसी प्रकार इस अध्यायमें कुछ दंड-विधान ऐसा भी देखनेमें आता है जिसमें 'अपराधी कोई और दंड किसीको' अथवा 'खता किसीकी सजा किसीको' इस दुर्नीतिका अनुसरण किया गया है। जैसे आत्महत्या (खुदकुशी) का दंड आत्मघातीके किसी कुटुम्बीको, इत्यादि।

संकीर्ण हृदयोद्गार।

(९) अब इस प्रायश्चित्ताध्यायसे दो चार नमूने ऐसे भी दिखलाये जाते हैं, जो जैनधर्मकी उदार नीतिके विरुद्ध हैं। यथाः—

> १—" अस्नातान्न स्पृशेत्सर्वान् स्नातानपि च शूद्रकान्।
> कुलालमालिकादिवाकीर्त्तिचक्रिकुविंदकान्॥ ४५॥
> २—मातंगश्वपचादीनां छायापतनमात्रतः।
> तदा जलाशयं गत्वा सचेलस्नानमाचरेत्॥ ५६॥

---

१ यह ग्रंथ परीक्षा द्वारा जाली सिद्ध किया जा चुका है। देखो जैनहितैषी दसवाँ भाग अंक १–२।

* जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रगट हैः—

> "–पुष्पं देयं महाभक्त्या न तु दुष्टजनैर्धृतम्॥२-१२९॥
> पयोर्थं गौ जलार्थं वा कूपं पुष्पसुहेतवे।
> वाटिकां संप्रकुर्वंश्च नाति दोषधरो भवेत्॥-१३०॥"

३–उच्छिष्टास्पृश्यकाकादिविण्मूत्रस्पर्शसंशये ।
अस्पृश्यमृष्टसूर्पादिकट्यादिस्पर्शने द्विजः ॥ ८२ ॥

४–शुद्धे वारिणि पूर्वोक्तयंत्रमंत्रैः सचेलकः ।
कुर्यात्स्नानत्रयं दंतजिह्वाघर्षणपूर्वकम् ॥ ८३ ॥

५–मिथ्यादृशां गृहे पात्रे भुंक्ते वा शूद्रसद्मनि ।
तदोपवासाः पंच स्युर्जाप्यं तु द्विसहस्रकम् ॥ ८६ ॥

इन पद्योंमेंसे पहले पद्यमें लिखा है कि, 'चारों वर्णोंमेंसे किसी भी वर्णका–अथवा मनुष्य मात्रमेंसे कोई भी–क्यों न हो यदि उसने स्नान नहीं किया है तो उसे छूना नहीं चाहिए । और शूद्रोंको–कुम्हार, माली, नाई, तेली तथा जुलाहोंको–यदि वे स्नान भी किये हुए हों तो भी नहीं छूना चाहिए । ये सब लोग अस्पृश्य हैं। दूसरे पद्यमें यह बतलाया है कि यदि किसी मातंग-श्वपचादिककी अर्थात् भील, चांडाल, म्लेच्छ, भंगी, और चमार आदिककी छाया भी शरीर पर पड़ जाय तो तुरन्त जलाशयको जाकर वस्त्रसहित स्नान करना चाहिए ! तीसरे और चौथे पद्यमें यहाँ तक आज्ञा की है कि, यदि किसी उच्छिष्ट पदार्थसे, अस्पृश्य मनुष्यादिकसे, काकादिकसे अर्थात् कौआ, कुत्ता, गधा, ऊँट, पालतू सुअर नामके जानवरोंसे और मलमूत्रसे छूजानेका संदेह भी हो जाय अथवा किसी ऐसे छाज-छलनी वगैरहका तथा चटाई-आसनादिकका स्पर्श हो जाय जिसमें कोई अस्पृश्य पदार्थ लगा हुआ हो तो इन दोनों ही अवस्थाओंमें दाँतों तथा जीभको रगड़कर यंत्रमंत्रोंके साथ शुद्धजलमें तीन बार वस्त्रसहित स्नान करना चाहिए ! ! और पाँचवें पद्यमें इससे भी बढ़कर यह आदेश है कि यदि मिथ्यादृष्टियों अर्थात् अजैनोंके घर पर

१ 'आदि' शब्दसे श्वान (कुत्ता) आदिका जो ग्रहण किया गया है वह इससे पहलेके "स्पृष्टे विण्मूत्रकाकश्वाखरोष्ट्रग्रामशूकरे' इस वाक्यके आधार पर किया गया है ।

अपने पात्रोंमें तथा अपने ही घर पर उनके पात्रोंमें भोजन हो जाय अथवा शूद्रके घर पर बैठकर—चाहे वह सम्यग्दृष्टि और व्रतिक जैनी ही क्यों न हो—कुछ खालिया जाय तो इस पापकी शांतिके लिए तुरन्त दो हजार संख्या प्रमाण जाप्यके साथ पाँच उपवास करने चाहिए!!! पाठको, देखा, कैसा धार्मिक उपदेश है! घृणा और द्वेषके भावोंसे कितना अलग है! परोपकारमय जीवन बिताने तथा जगत्का शासन, रक्षण और पालन करनेके लिए कितना अनुकूल है! सार्वजनिक प्रेम और वात्सल्यभाव इससे कितना प्रवाहित होता है। और साथ ही, जैनधर्मके उस उदार उद्देश्यसे इसका कितना सम्बंध है जिसका चित्र जैनग्रंथोंमें, जैन तीर्थंकरोंकी 'समवसरण' नामकी सभाका नकशा खींचकर दिखलाया जाता है!! कहा जाता है कि जैन तीर्थंकरोंकी सभामें ऊँच-नीचके भेदभावको छोड़कर, सब मनुष्य ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी तक भी शामिल होते थे। और वहाँ पहुँचते ही वे आपसमें ऐसे हिलमिल जाते थे कि अपने अपने जातिविरोध तकको भी भुला देते थे। सर्प निर्भय होकर नकुलके पास खेलता था और बिल्ली प्रेमसे चूहेका आलिंगन करती थी। कितना ऊँचा आदर्श और कितना विश्व-प्रेममय-भाव है! कहाँ यह आदर्श? और कहाँ संहिताका उपर्युक्त विधान? इससे स्पष्ट है कि संहिताका यह सब कथन जैनधर्मकी शिक्षा न होकर उससे बहिर्भूत है। जैन तीर्थंकरोंका कदापि ऐसा अनुदार शासन नहीं हो सकता। और न जैनसिन्द्धान्तोंसे इसका कोई मेल है। इस लिए कहना होगा कि उपर्युक्त प्रकारका संपूर्ण कथन दूसरे धर्मोंसे उधार लेकर रक्खा गया है। और यह किसी ऐसे संकीर्ण हृदय व्यक्तिका हृद्योद्गार है जिसने शुद्धि और अशुद्धिके तत्त्वको ही नहीं समझा *। निःसन्देह जबसे, कुछ महात्माओंकी

---

* लेखकका विचार है कि **शुद्धि-तत्त्व-मीमांसा** नामका एक विस्तृत लेख लिखा जाय और उसके द्वारा इस विषय पर प्रकाश डाला जाय। अवसर मिलने पर उसेक लिए प्रयत्न किया जायगा।

कृपासे, जैनधर्मके साहित्यमें इस प्रकारके अनुदार विचारोंका प्रवेश हुआ है तबसे जैनधर्मको बहुत बड़ा धक्का पहुँचा है और उसकी सारी प्रगति रुक गई। वास्तवमें ऐसे अनुदार विचारोंके अनुकूल चलनेवाले संसारमें कभी कोई उन्नति नहीं कर सकते और न उच्च तथा महान् बन सकते हैं।

पिण्डदान और तर्पण।

(१०) पहले खंडके ' दायभाग ' नामक ९ वें अध्यायमें लिखा है कि ' दायग्रहण और पिंडदानमें दोहिते पोतोंकी बराबर हैं '। साथ ही, दूसरे स्थान पर पुत्रोंका विभाग करते हुए, जैनागमके अनुसार छह प्रकारके पुत्रोंको दाय ग्रहण और पिंडदानके अधिकारी बतलाये हैं। यथाः—

> दाये वा पिंडदाने च पौत्रैः दौहित्रकाः समाः ॥ २५ ॥
> औरसो दत्तको मुख्यौ क्रीतसौतसहोदराः।
> तथैवोपनतश्चैव इमे गौणा जिनागमे ॥
> दायादाः पिंडदाश्चैव इतरे नाधिकारिणः ॥ ८४ ॥

इस कथनसे ग्रंथकर्ताने यह सूचित किया है कि पितरोंके लिए पिंडदानका करना भी जैनियों द्वारा मान्य है और यह जैनधर्मकी क्रिया है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। यह सब हिन्दू धर्मकी कल्पना है। हिन्दुओंके यहाँ इस पिंड दानके करनेसे पितरोंकी सद्गति आदि अनेक फल माने गये हैं और उनके लिए वे गया आदिक तीर्थों पर भी पिंड देने जाते हैं। जिसका जैनधर्मसे कुछ सम्बंध नहीं है। जैनसिद्धान्तके अनुसार न तो वह पिंड उन पितरोंको पहुँचता है और न उसके द्वारा उनकी सद्गति आदि कोई दूसरा कल्याण हो सकता है। इस लिए संहिताका यह कथन जैनधर्मके विरुद्ध है। इसी प्रकार कुल-देवताओंका तर्पण-विषयक कथन भी जैनधर्मके विरुद्ध है, जिसे ग्रंथकर्ताने इसी खंडके पहले अध्यायमें दिया है। यथाः—

" वामहस्तपयःपात्राज्जलमन्नकरांजलौ ।
कृत्वान्नममृतीकृत्य तर्पयेत्कुलदेवताः ॥ ९७ ॥

' ॐ ह्रीं ॐ वँ हूँ पयः इदमन्नममृतं भवतु स्वाहा ।
अन्नेन घृतसिक्तेन नमस्कारेण वै भुवि ।
त्रिस्र एवाहुतीर्दद्याद्भोजनादौ तु दक्षिणे ॥ ९८ ॥

यह कथन भोजन-समयका है–भोजनके लिए गोवरका चतुष्कोणादि मंडल बनाकर बैठनेके बादका यह विधान है–इसमें लिखा है ' कि भोजनसे पहले, बायें हाथके जलपात्रसे अंजलिमें जल लेकर और उपर्युक्त मंत्र पढ़कर, अन्नका अमृतीकरण करे । और फिर उस घृतमिश्रित अन्नसे कुल-देवताओंका इस प्रकारसे तर्पण करे कि उस अन्नसे तीन आहुतियें दक्षिणकी ओर पृथ्वी पर छोड़े ।' इसके बाद ' आपोऽशनका विधान है। अस्तु; यह सब कथन भी हिन्दूधर्मका कथन है और उन्हींके धर्मग्रंथोंसे लिया गया मालूम होता है । जैनसिद्धान्तके अनुसार तर्पणका अन्नजल पितरों तथा देवताओंको नहीं पहुँच सकता और न उससे उनकी कोई तृप्ति होती है । हिन्दूधर्ममें तर्पणका कैसा सिद्धान्त है ? कैसी कैसी विचित्र कल्पनायें हैं ? जैनधर्मके सिद्धान्तोंसे उनका कहाँ तक मेल है ? वे कितनी असंगत और विभिन्न हैं ? और किस प्रकारसे कुछ कपट-वेषधारी निर्बल आत्माओंने उन्हें जैनसमाजमें प्रचलित करना चाहा है ? इन सब बातोंका कुछ विशेष परिचय पानेके लिए पाठकोंको ' जिनसेन-त्रिवर्णाचार'[1] की परीक्षाका लेख देखना चाहिए !

दन्तधावनका फल नरक ।

(११) संहिताके पहले अध्यायमें, दन्तधावनका वर्णन करते हुए, एक पद्य इस प्रकारसे दिया है:—

---

१ यह लेख जैनहितैपीकी १० वें वर्षकी फायलमें छपा है ।

" सहस्रांशावनुदिते यः कुर्याद्दन्तधावनम् ।
स पापी नरकं याति सर्वजीवदयातिगः ॥ ३८ ॥

इसमें लिखा है कि 'जो मनुष्य सूर्योदयसे पहले दन्तधावन करता हैं वह पापी है, सर्व जीवोंके प्रति निर्दयी है और नरक जायगा।' परन्तु उसने पापका कौनसा विशेष कार्य किया? कैसे सर्व जीवोंके प्रति उसका निर्दयत्व प्रमाणित हुआ? और जैनधर्मके किस सिद्धान्तके अनुसार उसे नरक जाना होगा? इन सब बातोंको उक्त पद्यसे कुछ भी बोध नहीं होता। आगे पीछेके पद्य भी इस विषयमें मौन हैं और कुछ उत्तर नहीं देते। जैनसिद्धान्तोंको बहुत कुछ टटोला गया। कर्मफिलासोफीका बहुतेरा मथन किया गया। परन्तु ऐसा कोई सिद्धान्त—कर्म प्रवृत्तिका कोई नियम—मेरे देखनेमें नहीं आया जिससे बेचारे प्रातःकाल उठकर दन्तधावन करनेवालेको नरक भेजा जाय। हाँ, इस ढूँढ़ खोजमें, स्मृति-रत्नाकरसे, हिन्दूधर्मका एक वाक्य जरूर मिला है, जिसमें उपवासके दिन दन्तधावन करनेवालेको नरककी कड़ी सजा दी गई है। और इतने पर भी संतोष नहीं किया गया बल्कि उसे चारों युगोंमें व्याघ्रका शिकार भी बनाया गया है। यथा:—

" उपवासदिने राजन् दन्तधावनकृन्नरः ।
स घोरं नरकं याति व्याघ्रभक्षश्चतुर्युगम् ॥

—इति नारदः ।

भहुत संभव है कि ग्रंथकर्ताने हिन्दूधर्मके किसी ऐसे ही वाक्यका अनुसरण कियां हो। अथवा जरूरत बिना जरूरत उसे कुछ परिवर्तन करके रक्खा हो। परन्तु कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि संहिताका उक्त वाक्य सैद्धान्तिक दृष्टिसे जैनधर्मके बिल्कुल विरुद्ध है।

अद्भुत न्याय।

(१२) पहले खंडके तीसरे अध्यायमें एक स्थान पर ये दो पद्य पाये जाते हैं:—

दंडोऽदंड्येषु देयस्तु यशोघ्नो दुरिताकरः ।
परत्र नरकं याति दाता भूपः कुटुम्बयुक् ॥ २४८ ॥
अदंड्यदंडनं राजा कुर्वन्दंड्यानदंडयन् ।
लोके निन्दामवाप्नोति परत्र नरकं व्रजेत् ॥ २४९ ॥

इन दोनों पद्योंमें निरपराधीको दंड देनेवाले राजाको और दूसरे पद्यमें अपराधीको छोड़ देनेवाले–क्षमा कर देनेवाले–राजाको भी नरकका पात्र ठहराया है । लिखा है कि इस लोकमें उसकी निन्दा होती है–जो प्रायः सत्य है–और मरकर परलोकमें वह नरक गतिको जाता है । नरक गतिका यह फर्मान इस विषयका कोई फाइनल आर्डर (अन्तिम फैसला) हो सकता है या नहीं ? अथवा यों कहिए कि वह नियमसे नरक गति जायगा या नहीं ? यह बात अभी विवादास्पद है । जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे यदि किसी निरपराधीको दंड मिल जाय अथवा कोई अपराधी दंडसे छुट जाय या छोड़ दिया जाय तो सिर्फ इतने कृत्यसे ही कोई राजा नरकका पात्र नहीं बन जाता । उसके लिए और भी अनेक बातोंकी जरूरत रहती है । परन्तु मनुका ऐसा विधान जरूर पाया जाता है । यथाः—

" अदंड्यान्दंडयन् राजा दंड्यांश्चैवाप्यदंडयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ ८–१२८ ॥

यह पद्य ऊपरके दूसरे पद्य नं० २४९ से बहुत कुछ मिलता जुलता है; और दोनोंका विषय भी एक है । आश्चर्य नहीं कि ऊपरका वह पद्य इसी पद्य परसे बनाया गया हो । परंतु इन सब प्रासंगिक बातोंको छोड़िए, और खास पहले पद्य नं० २४८ के 'कुटुम्बयुक्' पद पर ध्यान दीजिए, जिसका अर्थ होता है कि वह राजा कुटुम्ब-सहित नरक जाता है । क्यों ? कुटुम्बियोंने क्या कोई अपराध किया है जिसके लिए उन्हें नरक भेजा जाय ? चाहे उन बेचारोंको राजाके कृत्योंकी खबर तक भी न हो,

वे उसके उन कार्यों में सहायक और अनुमोदक भी न हों और चाहे राजाके उस आचरणको बुरा ही समझते हों; परन्तु फिर भी उन सबको नरक जाना होगा ! यह कहाँका न्याय और इन्साफ है !! जैनधर्मकी कर्मफिलासोफीके अनुसार कुटुम्बका प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कृत्योंका उत्तरदायी और अपने ही उपार्जन किये हुए कर्मोंके फलका भोक्ता है। ऐसी हालतमें ऊपरका सिद्धान्त कदापि जैनधर्मका सिद्धान्त नहीं हो सकता। अस्तु; इसी प्रकारका एक कथन दायभाग नामके अध्यायमें भी पाया जाता है। यथाः—

" दत्तं चतुर्विधं द्रव्यं नैव गृह्णंति चोत्तमाः।
अन्यथा सकुटुम्बास्ते प्रयान्ति नरकं ततः ॥ ७१ ॥

इसमें लिखा है कि 'उत्तम पुरुष दिये हुए चार प्रकारके द्रव्यको वापिस नहीं लेते। और यदि ऐसा करते हैं तो वे उसके कारण कुटुम्ब-सहित नरकमें जाते हैं।' ऐसे अटकलपच्चू और अव्यवस्थित वाक्य कदापि केवली या श्रुतकेवलीके वचन नहीं हो सकते। उनके वाक्य बहुत ही ऊँचे और तुले होने चाहिए। परन्तु ग्रन्थकर्ता इन्हें '**उपासकाध्ययन**' से उद्धृत करके लिखना बयान करता है, जो द्वादशांगश्रुतका सातवाँ अंग कहलाता है ! पाठक सोचें, कि ग्रंथकर्ता महाशय कितने सत्यवक्ता हैं !

कन्याओं पर आपत्ति।

(१३) दूसरे खंडके 'लक्षण' नामक ३७ वें अध्यायमें, स्त्रियोंके कुलक्षणोंका वर्णन करते हुए, लिखा है कि 'जिस कन्याका नाम किसी नदी-देवी-कुल-आम्नाय-तीर्थ या वृक्षके नाम पर होवे उसका मुख नहीं देखना चाहिए। यथाः—

" नदीदेवीकुलाम्नायतीर्थवृक्षसुनामतः
एतन्नामा च या कन्या तन्मुखं नावलोकयेत्॥ १२० ॥"

यह वचन कितना निष्ठुर है ! कितना धर्म शून्य है ! और इसके द्वारा कन्याओं पर कितनी आपत्ति डालनेका आयोजन किया गया है, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। समझमें नहीं आता कि किस आधार पर यह आज्ञा प्रचारित की गई है ? और लक्षण-शास्त्रसे इस कथनका क्या सम्बंध है ! क्या पैदा होते समय कन्याके मस्तकादिक किसी अंग विशेष पर उसका कोई नाम खुदा हुआ होता है जिससे अशुभ या शुभ नामके कारण वह भयंकरी समझली जाय ? और लोगोंको उससे अपना मुँह छिपाने, आँखें बन्द करने या उसे कहीं प्रवासित करनेकी जरूरत पैदा हो ? जब ऐसा कुछ भी न होकर स्वयं मातापिताओंके द्वारा अपनी इच्छानुसार कन्याओंका नाम रक्खा जाता है तो फिर उसमें उन बेचारी अबलाओंका क्या दोष है जिससे वे अदर्शनीय और अनवलोकनीय समझी जायँ ? जिन पाठकोंको उस कपटी साधुका उपाख्यान याद है, जिसने अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए—अपनी पाशविक इच्छाको पूरा करनेके अभिप्रायसे—एक सर्वांग सुन्दरी कन्याको कुलक्षणा और अदर्शनीया कह कर उसे उसके पिता द्वारा मंजूषेमें बन्द कराकर नदीमें बहाया था, वे इस बातका अनुभव कर सकते हैं कि समय समय पर इस प्रकारके निराधार और निर्हेतुक वचन ऐसे ही स्वार्थसाधुओं द्वारा भूमंडल पर प्रचारित हुए हैं। मनुष्योंको विवेकसे काम लेना चाहिए और किसीके कहने सुनने या धोखेमें नहीं आना चाहिए।

कूटोपदेश और मायाजाल।

(१४) तीसरे खंडके 'प्रतिष्ठा-क्रम' नामक दूसरे अध्यायमें, गुरुके उपदेशानुसार कार्य करनेका विधान करते हुए, लिखा है कि:—

" यो न मन्येत तद्वाक्यं सो मन्येत न चार्हतम्।
जैनधर्मबहिर्भूतः प्राप्नुयान्नारकीं गतिं ॥ ८८ ॥ "

अर्थात्–जो गुरुके वचनको नहीं मानता वह अर्हन्तके वचनोंको नहीं मानता। उसे जैनधर्मसे वहिर्भूत समझना चाहिए और वह मरकर नरक गतिको प्राप्त होगा। नरक गतिका यह फर्मान भी वड़ा ही विलक्षण है! इसके अनुसार जो लोग जैनधर्मसे वहिर्भूत हैं अर्थात् अजैनी हैं उन सबको नरक जाना पड़ेगा! साथ ही, जो जैनी हैं और जैनगुरुके–पदवीधारी गुरुके–उलटे सीधे सभी वचनोंको नहीं मानते–किसीको मान लेते हैं और किसीको अमान्य कर देते हैं–उन सबको भी नरक जाना होगा! कैसा कूटोपदेश है! स्वार्थ-रक्षाकी कैसी विचित्र युक्ति है! समाजमें कितनी अन्धश्रद्धा फैलानेवाला है! धर्मगुरुओं–स्वार्थसाधुओं–कपट वेष-धारियोंके अन्याय और अत्याचारका कितना उत्पादक और पोषक है। साथ ही, जैनियोंके तत्त्वार्थसूत्रमें दिये हुए नरकायुके कारण विषयक सूत्रसे–' वह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ' इस वाक्यसे–इसका कहाँ तक सम्बंध है? इन सब बातोंको विज्ञ-पाठक विचार सकते हैं। समझमें नहीं आता कि जैनगुरुके किसी वचनको न माननेसे ही किस प्रकार कोई जैनी अर्हन्तके वचनोंको माननेवाला नहीं रहता? क्या सभी जैनगुरु पूर्णज्ञानी और वीतराग होते हैं! क्या उनमें कोई स्वार्थसाधु, कपट-वेषधारी, निर्बलात्मा और कदाचारी नहीं होता? और क्या जिन गुरुओंके कृत्योंकी यह समालोचना (परीक्षा) हो रही है वे जैनगुरु नहीं थे? यदि ऐसा कोई नियम नहीं है बल्कि वे अल्पज्ञानी, रागी, द्वेषी आदि सभी कुछ होते हैं। और जिनके कृत्योंकी यह समालोचना हो रही है वे भी जैनगुरु कहलाते थे तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि जो गुरुके वचनको नहीं मानता वह अर्हन्तके वचनोंको भी नहीं मानता? और उसे जैनधर्मसे वहिर्भूत–खारिज–अजैनी समझना चाहिए? मालूम होता है कि यह सब भोले जीवोंको ठगनेके लिए कपटी साधुओंका मायाजाल है। उनके कार्योंमें कोई बाधा न डाल सके– उनकी काली कृतियों पर–उनके अत्याचार-दुराचारों पर–कोई

आक्षेप न कर सके और समाजमें उनकी उलटी सीधी सभी बातें प्रच-लित हो जायँ, इन्हीं सब बातोंके लिए यह बँध बाँधा गया है । आगे साफ लिख दिया है कि 'तदाज्ञाकारको मर्त्यो न दुष्याति विधौ पुनः'— गुरुकी आज्ञासे काम करनेवालेको कोई दोष नहीं लगता। कितना बड़ा आश्वासन है । ऐसे ही मिथ्या आश्वासनके द्वारा जैनसमाजमें मिथ्यात्वका प्रचार हुआ है । अनेक प्रकारकी पूजायें—देवी-देवताओंकी उपासनायें—जारी हुई हैं, जिनका बहुतसा कथन इस ग्रंथमें भी पाया जाता है। इसी प्रतिष्ठाध्यायमें अनेक ऐसे कृत्योंकी सूचना की गई है जो जैनधर्मके विरुद्ध हैं—जैनसिद्धान्तसे जिनका कोई सम्बंध नहीं है—और जिनका सर्व साधारणके सन्मुख स्वतंत्र विवेचन प्रगट किये जानेकी जरूरत है । यहाँ इस अध्यायके सम्बंधमें सिर्फ इतना और बतलाया जाता है कि, इसमें मुनिको—साधारण मुनिको नहीं बल्कि गणि और गच्छा-धिपतिको—प्रतिष्ठाका अधिकारी बतलाया है । उसके द्वारा प्रतिष्ठित किये हुए बिम्बादिकके पूजन-सेवनका उपदेश दिया है । और यहाँ तक लिख दिया है कि जो प्रतिष्ठा ऐसे महामुनि द्वारा न हुई हो उसे सम्यक् तथा सातिशयवती प्रतिष्ठा ही न समझनी चाहिए । और इस लिए उक्त प्रतिष्ठामें प्रतिष्ठित हुई मूर्तियाँ अप्रतिष्ठित ही मानी जानी चाहिए । यथाः—

" सामायिकादिसंयुक्तः प्रभुः सूरिर्विचक्षणः ।
देशमान्यो राजमान्यः गणी गच्छाधिपो भवेत् ॥ १२ ॥
बिम्बं प्रतिष्ठामिन्द्रत्वं तेन संस्कारितं भजेत् ।
नोचेत्प्रतिष्ठा न भवेत्सम्यक् सातिशयान्विता ॥ १३ ॥

परन्तु इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि और एकसंधि आदि विद्वानोंने, पूजासारादि ग्रंथोंमें, महाव्रती मुनिके लिए प्रतिष्ठाचार्य होनेका सख्त निषेध किया है । और अणुव्रतीके लिए—चाहे वह स्वदारसंतोषी हो या ब्रह्मचारी—उसका विधान किया है । ऐसी हालतमें, जैनी लोग कौनसे

गुरुकी बात मानें, यह बड़ी कठिन समस्या है ! जिस गुरुकी बातको वे नहीं मानेंगे उसीकी आज्ञा उल्लंघनके पाप द्वारा उन्हें नरक जाना पड़ेगा। इस लिए जैनियोंको सावधान होकर अपने बचनेका कोई उपाय करना चाहिए।

अजैन देवताओंकी पूजा।

(१५) भद्रबाहुसंहिताके तीसरे खंडमें—'ऋषिपुत्रिका' नामके चौथे अध्यायमें,—देवताओंकी मूर्तियोंके फूटने टूटने आदिरूप उत्पातोंके फलका वर्णन करते हुए, 'अथान्यदेवतोत्पातमाह' यह वाक्य देकर, लिखा है कि 'भंग होने पर—कुबेरकी प्रतिमा वैश्योंका, स्कंदकी प्रतिमा भोज्योंका, नंदिवृषभ (नादिया बैल) की प्रतिमा कायस्थोंका नाश करती है; इन्द्रकी प्रतिमा युद्धको उपस्थित करती है; कामदेवकी प्रतिमा भोगियोंका, कृष्णकी प्रतिमा सर्व लोकका, अर्हंत-सिद्ध तथा बुद्धदेवकी प्रतिमायें साधुओंका नाश करती हैं; कात्यायनी-चंडिका-केशी-कालीकी मूर्तियाँ सर्व स्त्रियोंका, पार्वती-दुर्गा-सरस्वती-त्रिपुराकी मूर्तियाँ बालकोंका, वराहीकी मूर्ति हाथियोंका घात करती है; नागिनीकी मूर्ति स्त्रियोंके गर्भोंका और लक्ष्मी तथा शाकंभरी देवीकी मूर्तियाँ नगरोंका विनाश करती हैं। इसी प्रकार यदि शिवलिंग फूट जाय तो उससे मंत्रीका भेद होता है, उसमेंसे अग्निज्वाला निकलने पर देशका नाश समझना चाहिए; और चर्बी, तेल तथा रुधिरकी धारायें निकलने पर वे किसी प्रधान पुरुषके रोगका कारण होती हैं। यदि इन देवताओंकी भक्ति-भाव पूर्वक पूजा नहीं की जाती है तो ये सभी उत्पात तीन महीनेके भीतर अपना अपना रंग दिखलाते हैं अर्थात् फल देते हैं।' इस कथनके आदि और अन्तकी दो दो गाथायें नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

"वणियाणं च कुबेरो खंदो भोयाण णासणं कुणदि।
कायत्थाणं वसहो इंदो रण्णं णिवेदेदि ॥ ८२ ॥

भोगवदीण य कामो किण्हो पुण सव्वलोयणासयरो ।
अरहंतसिद्धबुद्धा जदीण णासं पकुव्वंति ॥ ८३ ॥
" कुडिदो मंतियभेदं अग्गीजालेण देसणासयरो ।
घसतेलरुहिरधारा कुणंति रोगं णरवरस्स ॥ ८७ ॥
मासेहिं तीयेहिं रूवं दंसंति अप्पणो सव्वे ।
जदि णवि कीरदि पूजा देवाणं भत्तिरायेण ॥ ८८ ॥

इसके आगे उत्पातोंकी शांतिके लिए उक्त कुवेरादिक देवताओंके पूजनका विधान करते हुए लिखा है कि ' ऐसी उत्पातावस्थामें ये सब देव गंध, माल्य, दीप, धूप और अनेक प्रकारके वलिदानोंसे पूजा किये जाने पर संतुष्ट हो जाते हैं, शांतिको देते हैं और पुष्टि प्रदान करते हैं । ' साथ ही यह भी लिखा है कि, ' चूँकि अपमानित देवता मनुष्योंका नाश करते हैं और पूजित देवता उनकी सेवा करते हैं, इस लिए इन देवताओंकी नित्य ही पूजा करना श्रेष्ठ है । इस पूजाके कारण न तो देवता किसीका नाश करते हैं, न रोगोंको उत्पन्न करते हैं और न किसीको दुःख या संताप देते हैं । वल्कि अतिविरुद्ध देवता भी शांत हो जाते हैं । ' यथाः—

" मल्लेहिं गंधधूवेहिं पूजिदा वलिपयारदीवेहिं ।
तूसंति तत्थ देवा संतिं पुट्ठिं णिवेदिंति ॥ ८९ ॥
अवमाणिया य णासं करंति तह पूजिदा य पूजंति ।
देवाण णिच्चपूजा तम्हा पुण सोहणा भणिया ॥ ९० ॥
ण य कुव्वंति विणासं ण य रोगं णेव दुक्खसंतावं ।
देवावि अइविरुद्धा हवंति पुण पुज्जिदा संता ॥ ९१ ॥

इसके वाद कुछ दूसरे प्रकारके उत्पातोंका वर्णन देकर, सर्व प्रकारके उत्पातोंकी शांतिके लिए अर्हन्त और सिद्धकी पूजाके साथ हरि-हर-ब्रह्मादिक देवोंके पूजनका भी विधान किया है । साथ ही, ब्राह्मण

देवताओंको दक्षिणा देने—सोना, गौ और भूमि प्रदान करने—तथा संपूर्ण ब्राह्मणों और श्रेष्ठ मुनियों आदिको भोजन खिलानेका भी उपदेश दिया है। और अन्तमें लिखा है कि उत्पात-शांतिके लिए यह विधि हमेशा करने योग्य है। यथाः—

" अरहंतसिद्धपूजा कायव्वा सुद्धभत्तीए ॥ ११० ॥
हरिहरविरंचिआईदेवाण य दहियदुद्धण्हवणंपि ।
पच्छावलिं च सिरिखंडेण य ल्वेवधूपदीवआदीहिं ॥ १११ ॥
जं किंचिवि उप्पादं अण्णं विग्घं च तत्थ णासेइ ।
दक्खिणदेज्जसुवण्णं गावी भूमीउ विप्पदेवाणं ॥ ११२ ॥
भुंजावेज्जसुसव्वे वह्ने तवसीलसव्वलोयस्स ।
णित्ताव्वय यइ सारय एस विही सव्वकालस्स ॥ ११३ ॥

इस तरह पर, बहुत स्पष्ट शब्दोंमें, अजैन देवताओंके पूजनका यह विधान इस ग्रन्थमें पाया जाता है। और वह भी प्राकृत भाषामें, जिस भाषामें बने हुए ग्रंथको आजकलकी साधारण जैन-जनता कुछ प्राचीन और अधिक महत्त्वका समझा करती है। इस विधानमें सिर्फ उत्पातोंकी शांतिके लिए ही हरि-हर-ब्रह्मादिक देवताओंका पूजन करना नहीं बतलाया, बल्कि नित्य पूजन न किये जाने पर कहीं वे देवता अपनेको अपमानित न समझ बैठें और इस लिए कुपित होकर जैनियोंमें अनेक प्रकारके रोग, मरी तथा अन्य उपद्रव खड़े न करदें, इस भयसे उनका नित्य पूजन करना भी ठहराया गया है। और उसे सुन्दर श्रेष्ठ पूजा—शोभना-पूजा—बयान किया है। आश्चर्य है कि इतने पर भी कुछ जैन विद्वान् इस ग्रंथको जैनग्रन्थ मानते हैं। जैनग्रंथ ही नहीं, बल्कि श्रुतकेवलीका वचन स्वीकार करते हैं और जैनसमाजमें उसका प्रचार करना चाहते हैं! अन्धी श्रद्धाकी भी हद हो गई!! यहाँ पर मुझे उस मनुष्यकी अवस्था याद आती है जो अपने घरकी चिट्ठीमें किसी कौतुकी

द्वारा यह लिखा हुआ देखकर, कि तुम्हारी स्त्री विधवा हो गई है फूट फूट कर रोने लगा था। और लोगोंके बहुत कुछ समझाने बुझाने पर उसने यह उत्तर दिया था कि 'यह तो मैं भी समझता हूँ कि मेरे जीवित रहते हुए मेरी स्त्री विधवा कैसे हो सकती है। परन्तु चिट्ठीमें ऐसा ही लिखा है और जो नौकर उस चिट्ठीको लाया है वह बड़ा विश्वासपात्र है, इस लिए वह जरूर विधवा हो गई है, इसमें कोई संदेह नहीं;' और यह कह कर वह फिर सिरमें दुहत्थड़ मारकर रोने लगा था। जैनियोंकी हालत भी आजकल कुछ ऐसी ही विचित्र मालूम होती है। किसी ग्रंथमें जैन सिद्धान्त, जैनधर्म और जैननीतिके प्रत्यक्ष विरुद्ध कथनोंको देखते हुए भी, 'यह ग्रंथ हमारे शास्त्र-भंडारसे निकला है और एक प्राचीन जैनाचार्यका उस पर नाम लिखा हुआ है, बस इतने परसे ही, विना किसी जाँच और परीक्षाके, उस ग्रंथको मानने-मनानेके लिए तैयार हो जाते हैं, उसे साष्टांग प्रणाम करने लगते हैं और उस पर अमल भी शुरू कर देते हैं! यह नहीं सोचते कि जाली ग्रंथ भी हुआ करते हैं, वे शास्त्र-भंडारोंमें भी पहुँच जाया करते हैं और इस लिए हमें 'लकीरके फकीर न बनकर विवेकसे काम लेना चाहिए। पाठक सोचें, इस अंधेरका भी कहीं कुछ ठिकाना है! क्या जैनगुरुओंकी—चाहे वे दिगम्बर हों या श्वेताम्बर—ऐसी आज्ञायें भी जैनियोंके लिए माने जानेके योग्य हैं? क्या इन आज्ञाओंका पालन करनेसे जैनियोंको कोई दोष नहीं लगेगा? क्या उनका श्रद्धान और आचरण बिल्कुल निर्मल ही बना रहेगा? और क्या इनके उल्लंघनसे भी उन्हें नरक जाना होगा? ये सब बातें बड़ी ही चक्करमें डालनेवाली हैं। और इस लिए जैनियोंको बहुत सावधान होनेकी जरूरत है। यहाँ पाठकों पर यह भी प्रगट कर देना उचित है कि इस अध्यायके शुरूमें भद्रबाहु मुनिका नामोल्लेख पूर्वक यह प्रतिज्ञावाक्य भी दिया हुआ है:—

अह खलु तो रिसिपुत्तियणाम णिमित्तं सूप्पाज्झयणा ।
पवक्खइस्सामि सयं सुभद्दवाहू मुणिवरोहं ॥ ३ ॥

इसमें लिखा है कि ' मैं भद्रबाहु मुनिवर निश्चयपूर्वक उत्पादाध्ययन नामके पूर्वसे स्वयं ही इस ' ऋषिपुत्रिका ' नामके निमित्ताध्यायका वर्णन करूँगा । ' इससे यह सूचित किया गया है कि यह अध्याय खास द्वादशांग-वाणीसे निकला हुआ है—उसके ' उत्पाद ' नामके एक पूर्वका अंग है—और उसे भद्रबाहु स्वामीने खास अपने आप ही रचा है— अपने किसी शिष्य या चेलेसे भी नहीं वनवाया —और इस लिए वह वड़ी ही पूज्य दृष्टिसे देखे जानेके योग्य है ! निःसन्देह ऐसे ऐसे वाक्योंने सर्व साधारणको बहुत वड़े धोखेमें डाला है । यह सब कपटी साधुओंका कृत्य है, जिन्हें कूट बोलते हुए जरा भी लज्जा नहीं आती और जो अपने स्वार्थके सामने दूसरोंके हानि-लाभको कुछ नहीं समझते ।

ग्रहादिक देवता ।

(१६) इसी प्रकारसे दूसरे अध्यायोंमें और खास कर तीसरे खंडके ' शांति ' नामक दसवें अध्यायमें रोग, मरी, दुर्भिक्ष और उत्पातादिककी शांतिके लिए ग्रह-भूत-पिशाच-योगिनी-यक्षादिक तथा सर्पादिक और भी बहुतसे देवताओंकी पूजाका विधान किया है, उन्हें शान्तिका कर्त्ता बतलाया है और उनसे तरह तरहकी प्रार्थनायें की गई हैं; जिन सबका कथन यहाँ कथन-विस्तारके भयसे छोड़ा जाता है । सिर्फ ग्रहोंके पूजन-सम्बंधमें दो श्लोक नमूनेके तौर पर उद्धृत किये जाते हैं जिनमें लिखा है कि ' ग्रहोंका पूजन करनेके बाद उन्हें बलि देनेसे, जिनेंद्रका अभिषेक करनेसे और जैन महामुनियोंके संघको दान देनेसे, नवग्रह तृप्त होते हैं और तृप्त होकर उन लोगों पर अनुग्रह करते हैं जो ग्रहोंसे पीड़ित हैं । साथ ही, अपने किये हुए रोगोंको दूर कर देते हैं । यथाः—

" पूजान्ते बलिदानेन जिनेन्द्राभिषवेण च ।
महाश्रमणसंघस्य दानेन विहितेन च ॥ २०९ ॥
नवग्रहास्ते तृप्यंति ग्रहार्तांश्चानुगृह्णते ।
शमयंति रोगांस्तान्स्वस्वस्थान्स्वात्मना कृतान् ॥२१०॥

इससे यह सूचित किया गया है कि सूर्यादिक नव देवता अपनी इच्छासे ही लोगोंको कष्ट देते हैं और उनके अंगोंमें अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न करते हैं। जब वे पूजन और बलिदानादिकसे संतुष्ट हो जाते हैं तब स्वयं ही अपनी मायाको समेट लेते हैं और इच्छापूर्वक लोगों पर अनुग्रह करने लगते हैं। दूसरे देवताओंके पूजन सम्बंधमें भी प्रायः इसी प्रकारका भाव व्यक्त किया गया है। इससे मालूम होता है कि यह सब पूजन विधान जैनसिद्धान्तोंके विरुद्ध है, मिथ्यात्वादिकको पुष्ट करके जैनियोंको उनके आदर्शसे गिरानेवाला है और, इस लिए कदापि इसे जैनधर्मकी शिक्षा नहीं कह सकते। स्वामिकार्तिकेय लिखते हैं कि 'जो मनुष्य ग्रह, भूत, पिशाच, योगिनी और यक्षोंको अपने रक्षक मानता है और इस लिए पूजनादिक द्वारा उनके शरणमें प्राप्त होता है, समझना चाहिए कि वह मूढ़ है और उसके तीव्र मिथ्यात्वका उदय है। यथाः—

" एवं पेच्छंतो विहु गहभूयपिसायजोइणीजक्खं
सरणं भण्णइ मूढो सुगाढमिच्छत्तभावादो ॥ २७ ॥

इसी प्रकारके और भी बहुतसे लेखोंसे, जो दूसरे ग्रंथोंमें पाये जाते हैं, स्पष्ट है कि यह सब पूजन-विधान जैनधर्मकी शिक्षा न होकर दूसरे धर्मोंसे उधार लिया गया है।

गुरुमंत्र या गुप्तमंत्र।

(१७) उधार लेनेका एक गुरुमंत्र या गुप्तमंत्र भी इस ग्रंथके अन्तिम अध्यायमें पाया जाता है और वह इस प्रकार हैः—

"शान्तिनाथमनुस्मृत्य येने केन प्रकाशितम् ।
दुर्भिक्षमारीशान्त्यर्थं विदध्यात्सुविधानकम् ॥ २२५ ॥

इसमें लिखा है कि ' दुर्भिक्ष और मरी (उपलक्षणसे रोग तथा अन्य उत्पातादिक) की शांतिके लिए जिस किसी भी व्यक्तिने कोई अच्छा विधान प्रकाशित किया हो वह ' शांतिनाथको स्मरण करके–अर्थात् शांतिनाथकी पूजा उसके साथ जोड़ करके–जैनियोंको भी करलेना चाहिए ।' इससे साफ तौर पर अजैन विधानोंको जैन बनानेकी खुली आज्ञा और विधि पाई जाती है । इसी मंत्रके आधार पर, मालूम होता है कि, ग्रंथकर्ताने यह सब पूजन-विधान दूसरे धर्मोंसे उधार लेकर यहाँ रक्खा है । शायद इसी मंत्रकी शिक्षासे शिक्षित होकर ही उसने दूसरे बहुतसे प्रकरणोंको भी, जिनका परिचय पहले लेखोंमें दिया गया है, अजैन ग्रंथोंसे उठाकर इस संहितामें शामिल किया हो । और इस तरह पर उन्हें भद्रबाहुके वचन प्रगट करके जैनके कथन बनाया हो । परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, यह मंत्र बहुत बड़े कामका मंत्र है । देखनेमें छोटा मालूम होने पर भी इसका प्रकाश दूर तक फैलता है और यह अनेक बड़े बड़े विषयों पर भी अपना प्रकाश डालता है । इस लिए इसे [1]महामंत्र कहना चाहिए । नहीं मालूम इस महामंत्रके प्रभावसे समय समय पर कितनी कथायें, कितने व्रत, कितने नियम, कितने विधान, कितने स्तोत्र, कितनी प्रार्थनायें, कितने पूजा-पाठ, कितने मंत्र और कितने सिद्धान्त तक जैनसाहित्यमें प्रविष्ट हुए हैं, जिन सबकी जाँच और परीक्षा होनेकी जरूरत है । जाँचसे पाठकों को मालूम होगा कि संसारमें धर्मोंकी पारस्परिक स्पर्धा और एक दूसरेकी देखा देखी आदि कारणोंसे कितने काम हो जाते हैं और फिर वे कैसे आप्तवाक्यका रूप धारण कर लेते हैं ।

---

१ शायद इसी लिए ग्रंथकर्त्ताने, अपने अन्तिम वक्तव्यमें, इस संहिताका ' महामंत्रयुता ' ऐसा विशेषण दिया हो ?

शान्ति-विधान और झूठा आश्वासन ।

(१८) इस संहिताके तीसरे खंडमें-' शांति ' नामक १० वें अध्यायमें-रोग मरी और शत्रुओं आदिकी शांतिके लिए एक शांति-विधानका वर्णन देकर लिखा है कि, ' जो कोई राष्ट्र, देश, पुर, ग्राम, खेट, कर्वट, पत्तन, मठ, घोष, संवाह,वेला, द्रोणमुखादिक तथा घर, सभा, देवमंदिर बावड़ी, नदी, कुआँ और तालाब इस शांतिहोमके साथ स्थापन किये जाते हैं वे सब निश्चयसे उस वक्त तक कायम रहेंगे जब तक कि आकाशमें चंद्रमा स्थित है । अर्थात् वे हमेशाके लिए, अमर हो जायँगे-उनका कभी नाश नहीं होगा । यथाः—

" राष्ट्रदेशपुरग्रामखेटकर्वटपत्तनं ।
मठं च घोषसंवाहवेलाद्रोणमुखानि च ॥ ११५ ॥
इत्यादीनां गृहाणां च सभानां देववेश्मनाम् ।
वापीकूपतटाकानां सन्नदीनां तथैव च ॥ ११६ ॥
शांतिहोमं पुरस्कृत्य स्थापयेद्धर्ममुत्तमं ।
आचंद्रस्थायि तत्सर्वं भवत्येव कृते सति ॥ ११७ ॥

इस कथनमें कितना अधिक आश्वासन और प्रलोभन भरा हुआ है, यह बतलानेकी यहाँ जरूरत नहीं है । परन्तु इतना जरूर कहना होगा कि यह सब कथन निरी गप्पके सिवाय और कुछ भी नहीं है । ऐसा कोई भी विधान नहीं हो सकता जिससे कोई कृत्रिम पदार्थ अपनी अवस्था विशेषमें हमेशाके लिए स्थित रह सके । नहीं मालूम कितने मंदिर, मकान, कुएँ, बावड़ी, और नगर-ग्रामादिक इस शांति-विधानके साथ स्थापित हुए होंगे जिनका आज निशान भी नहीं है और जो मौजूद हैं उनका भी एक दिन निशान मिट जायगा । ऐसी हालतमें संहिताका उपर्युक्त कथन बिल्कुल असंभव मालूम होता है और उसके द्वारा लोगोंको व्यर्थका झूठा आश्वासन दिया गया है। श्रुतकेवली जैसे विद्वानोंका

कदापि ऐसा निःसार और गौरवशून्य वचन नहीं हो सकता। अस्तु; जिस शांतिविधानका इतना बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है और जिसके विषयमें लिखा है कि वह अकालमृत्यु, शत्रु, रोग और अनेक प्रकारकी मरी तकको दूर कर देनेवाला है उसका परिचय पानेके लिए पाठक जरूर उत्कंठित होंगे। इस लिए यहाँ संक्षेपमें उसका भी वर्णन दिया जाता है। और वह यह है कि 'इस शांतिविधानके मुख्य तीन अंग है—१ शांतिभट्टारकका महाभिषेक, २ बलिदान और ३ होम। इन तीनों क्रियाओंके वर्णनमें होममंडप, होमकुंड, वेदी, गंधकुटी और स्नानमंडप आदिके आकार-विस्तार, शोभा-संस्कार तथा रचना विशेषका विस्तृत वर्णन देकर लिखा है कि गंधकुटीमें शांतिभट्टारकका, उसके सामने सरस्वतीका और दाहने बायें यक्ष-यक्षीका स्थापन किया जाय। और फिर, अभिषेकसे पहले, भगवान् शांतिनाथकी पूजा करना ठहराया है। इस पूजनमें जल-चंदनादिकके सिवाय लोटा, दर्पण, छत्र, पालकी, ध्वजा, चँवर, रकेबी, कलश, व्यंजन, रत्न और स्वर्ण तथा मोतियोंकी मालाओं आदिसे भी पूजा करनेका विधान किया है। अर्थात ये चीजें भी, इस शांतिविधानमें, भगवानको अर्पण करनी चाहिए, ऐसा लिखा है। यथा:—

"भृंगारमुकुरच्छत्रपालिकाध्वजचामरैः।
घंटैः पंचमहाशब्दकलशव्यंजनाचलैः॥ ५६॥
सद्गंधचूर्णैर्मणिभिः स्वर्णमौक्तिकदामभिः।
वेणुवीणादिवादित्रैः गीतैर्नृत्यैश्च मंगलैः॥ ५७॥
भगवंतं समभ्यर्च्य शांतिभट्टारकं ततः।
तत्पादाम्बुरुहोपान्ते शांतिधारां निपातयेत्॥ ५८॥"

ऊपरके तीसरे पद्यमें यह भी बतलाया गया है कि पूजनके बाद शांतिनाथके चरण-कमलोंके निकट शांतिधारा छोड़नी चाहिए। यही

इस प्रकरणमें अभिषेकका विधान है जिसको 'महाभिषेक' प्रगट किया है। इस अभिषेकके बाद 'शान्त्यष्टक' को और फिर 'पुण्याहमंत्र' को, जिसे 'शांतिमंत्र' भी सूचित किया है और जो केवल आशीर्वादात्मक गद्य है, पढ़नेका विधान करके लिखा है कि 'गुरु प्रसन्न-चित्त* होकर भगवान्के स्नानका वह जल (जिसे भगवानके शरीरने छुआ भी नहीं!) उस मनुष्यके ऊपर छिड़के जिसके लिए शांति-विधान किया गया है। साथ ही उस नगर तथा ग्रामके रहनेवाले दूसरे मनुष्यों, हाथी-घोड़ों, गाय-भैंसों, भेड़-बकरियों और ऊँट तथा गधों आदि अन्य प्राणियों पर भी उस जलके छिड़के जानेका विधान किया है।

इसके बाद एक सुन्दर नवयुवकको सफेद वस्त्र तथा पुष्पमालादिकसे सजाकर और उसके मस्तक पर 'सर्वाल्ह' नामके किसी यक्षकी मूर्ति विराजमान करके उसे गाजेबाजेके साथ चौराहों, राजद्वारों, महाद्वारों, देवमंदिरों अनाजके ढेरों या हाथियोंके स्तंभों, स्त्रियोंके निवासस्थानों, अश्वशालाओं, तीर्थों और तालावों पर घुमाते हुए पाँच वर्णके नैवेद्यसे गंध-पुष्प-अक्षतके साथ जलधारा पूर्वक बलि देनेका विधान किया है। और साथ ही यह भी लिखा है कि पूजन, अभिषेक और बलिदान सम्बंधी यह सब अनुष्ठान दिनमें तीन बार करना चाहिए। इस बलिदानके पहले तीन पद्योंको छोड़कर, जो उस नवयुवककी सजावटसे सम्बंध रखते हैं, शेष पद्य इस प्रकार हैं:—

" कस्यचिच्चारुरूपस्य पुंसः सद्वास्त्रधारिणः।
सर्वाल्हयक्षं सोष्णीषे मूर्द्धन्यारोपयेत्ततः ॥ ६९ ॥

---

* गुरुकी प्रसन्नता सम्पादन करनेके लिए इसी अध्यायमें एक स्थान पर लिखा है कि जिस द्रव्यके देनेसे आचार्य प्रसन्नचित्त हो जाय वही उसको देना चाहिए। यथा—

'द्रव्येण येन दत्तेनाचार्यः सुप्रसन्नहृदयः स्यात्।
ग्रहशान्त्यन्ते दद्यात्तस्मै श्रद्धया साध्यः ॥ २१५ ॥

तत्सहायो विनिर्गच्छेद्बलिदानाय मंत्रवित् ।
छत्रचामरसत्केतुशंखभेर्यादिसंपदा ॥ ७० ॥

चतुष्पथेषु ग्रामस्य पत्तनस्य पुरस्य च ।
राजद्वारे महाद्वार्षु देवतायतनेषु च ॥ ७१ ॥

स्तम्बेरमाणां च स्थानेषु तुरंगानां च धामसु ।
बहुसेव्येषु तीर्थेषु चरतां सरसामपि ॥ ७२ ॥

चरुणा पंचवर्णेन गंधपुष्पाक्षतैरपि ।
यथाविधि बलिं दद्याज्जलधारापुरःसरं ॥ ७३ ॥

अनुष्ठितो विधिर्योऽयं पूर्वाह्णेऽभिषवादिकः ।
मध्याह्ने च प्रदोषे च तं तथैव समाचरेत् ॥ ७४ ॥"

इसके बाद अर्धरात्रिके समय खूब रोशनी करके, सुगंधित धूप जलाकर और आह्वान पूर्वक शांतिनाथका अनेक बहुमूल्य द्रव्योंसे पूजन तथा वही जलधारा छोड़नेरूप अभिषेक-विधान करके शांतिमंत्रसे होम करना, शान्त्यष्टक पढ़ना और फिर विसर्जन करना बतलाया है। इसके बाद फिर ये पद्य दिये हैं:—

"एवं संध्यात्रये चार्धरात्रौ च दिवसस्य यः ।
जिनस्नानादिहोमान्तो विधिः सम्यगनुस्तः ॥ १०२ ॥

तं कृत्स्नमपि सोत्साहो बुधः सप्त दिनानि वा ।
यद्वैकविंशतिं कुर्याद्यावदिष्टप्रसिद्धिता ॥ १०३ ॥

साध्यः सप्त गुणोपेतः समस्तगुणशालिनः ।
शांतिहोमदिनेष्वेषु सर्वेष्वप्यतिथीन् यतीन् ॥ १०४ ॥

क्षीरेण सर्पिषा दध्ना सूपखंडसितागुडैः ।
व्यंजनैर्विविधैर्भक्ष्यैर्लड्डुकापूरिकादिभिः ॥ १०५ ॥

स्वादुभिश्चोचमोचाम्रफनसादिफलैरपि ।
उपेतं भोजयेन्मृष्टं शुद्धं शाल्यन्नमादरात् ॥ १०६ ॥

क्षान्तिभ्यः श्रावकेभ्यश्च श्राविकाभ्यश्च सादरः।
वितरेदोदनं योग्यं विदयाच्चाम्बरादिकं॥ १०७॥

कुमारॉश्च कुमारींश्च चतुर्विंशतिसम्मितान्।
भोजयेदनुवर्तेत दीनानथजनानपि ॥ १०८ ॥"

इनमें लिखा है किः—'इस प्रकार तीनों संध्याओं और अर्धरात्रिके समयकी, स्नानसे लेकर होम पर्यंतकी, जो यह विधि कही गई है वह उत्साह पूर्वक सात दिन तक या २१ दिन तक अथवा जब तक साध्यकी सिद्धि न हो तब तक करनी चाहिए। और इन संपूर्ण दिवसोंमें शांति करानेवालेको चाहिए कि अतिथियों तथा मुनियोंको केला आम्रादि अनेक रसीले फलोंके सिवाय दूध, दही, घी, मिठाई तथा लड्डू, पूरी आदि खूब स्वादिष्ट और तर माल खिलावे। मुनि-आर्यिका-ओं, श्रावक-श्राविकाओंको चावल वितरण करे तथा वस्त्रादिक देवे। और २४ कुमार-कुमारियोंको जिमानेके बाद दीनों तथा दूसरे मनुष्योंको भी भोजन करावे।' इस तरह पर यह सब शांतिहोमका विधान है जिसकी महिमाका ऊपर उल्लेख किया गया है। विपुल धन-साध्य होने पर भी ग्रंथकर्ताने छोटे छोटे कार्योंके लिए भी इसका प्रयोग करना बतलाया है। बल्कि यहाँ तक लिखा दिया है कि जो कोई भी अशुभ होनहारका सूचक चिह्न दिखलाई दे उस सबकी शांतिके लिए यह विधान करना चाहिए। यथाः—

"यो यो भूज्ञापको (?) हेतुरशुभस्य भविष्यतः।
शांतिहोममम्मुं कुर्यात्तत्र तत्र यथाविधि ॥ ११४ ॥

इस शांतिविधानका इतना महत्त्व क्यों वर्णन किया गया? क्यों इसके अनुष्ठानकी इतनी अधिक प्रेरणा की गई? आडम्बरके सिवाय इसमें कोई वास्तविक गुण है भी या कि नहीं? इन सब बातोंको तो ग्रंथकर्ता महाशय या केवली भगवान् ही जानें! परन्तु सहृदय पाठकोंको, इस संपूर्ण

कथनसे, इतना ज़रूर मालूम हो जायगा कि इस विधानमें, जैनधर्मकी शिक्षाके विरुद्ध कथनोंको छोड़कर, कपटी और लोभी गुरुओंकी स्वार्थ-साधनाका बहुत कुछ तत्त्व छिपा हुआ है।

आचार्यपद-प्रतिष्ठा ।

(१९) इस ग्रंथके तीसरे खंड सम्बन्धी सातवें अध्यायमें, दीक्षा-लग्नका निरूपण करनेके वाद, आचार्य-पदकी प्रतिष्ठा—विधिका जो वर्णन दिया है उसका सार इस प्रकार है। फुट नोट्समें कुछ पद्योंका नमूना भी दिया जाता है:—

" जिस नगर या ग्राममें आचार्य पदकी प्रतिष्ठा-विधि की जाय वह सिर्फ निर्मल और साफ ही नहीं वल्कि राजाके संघसे भी युक्त होना चाहिए। इस विधानके लिए प्रासुक भूमि पर सौ हाथ परिमाणका एक क्षेत्र मण्डपके लिए ठीक करना चाहिए और उसमें दो वेदी वनानी चाहिये। पेहली वेदीमें पाँच रंगोंके चूर्णसे 'गणधरवलय' नामका मंडल वनाया जाय; और दूसरी वेदीमें शांतिमंडलकी महिमा करके चक्रको नाना प्रकारके घृत-दुग्धादिमिश्रित भोजनोंसे संतुष्ट किया जाय। संतुष्ट करनेकी यह क्रिया उत्कृष्ट १२ दिन तक जारी रहनी चाहिए। और उस समय तक वहाँ प्रति दिन कोई योगीजन शास्त्र बाँचा करे। साथ ही अभिषेकादि क्रियाओंका व्याख्यान और अनुष्ठान भी हुआ करे। जिस दिन आचार्य-पदकी प्रतिष्ठा की जाय उस दिन एकान्तमें सारस्वत युक्त आचारांगकी एक वार संघसहित और दूसरी वार, अपने वर्गसहित, पूजा करनी चाहिए। यदि वह मनुष्य (मुनि), जो आचार्य पद पर नियुक्त किया जाय,

---

१ कायव्वं तत्थ पुणो गणहरवलयस्स पंचवण्णेण ।
चुण्णेण य कायव्वं उद्धरणं चाह सोहिल्लं ॥

२ दुइजम्मि संति मंडलमाहिमा काऊण पुप्फधूवेहिं ।
णाणाविहभक्खेहिं य करिज्जपरितोसियं चक्कं ॥

दूसरे गणधरका शिष्य हो तो उसका केशलोच और आलोचनापूर्वक नामकरण संस्कार भी होना चाहिए। बारह[3] दिन तक दीनोंको दान बाँटा जाय और युवतीजन भक्तिपूर्वक मंगल गीत गावें। आचार्य[4] पद पर प्रतिष्ठित होनेवाले उस मनुष्यको चाहिए कि बारह दिन तक ऐसा कोई शब्द न कहे जिससे संघमें मत्सर-भाव उत्पन्न हो जाय (काम बन जाने पर पीछेसे भले ही कहले !)। मुनियोंके[5] इस उत्सवमें नाचने-गानेका भी विधान किया गया है, जिसके लिए बारह पुरुषों और उनकी बारह स्त्रियोंको चाहिए कि वे खूब सजधज कर—इंद्र इंद्राणियोंका रूप बनाकर—और अपने सिरों पर कलशे रखकर भावी आचार्यके सन्मुख नाचें, गावें और पाठ पढ़े। इसके बाद वे सब इंद्र-इंद्राणियाँ मंडलको नमस्कार करें और दक्षिण ओरके मंगल द्रव्यको प्राप्त होकर तथा सात धान्योंको छूकर एक मंत्रका जाप्य करें। स्नानके[6] लिए चाँदी-सोनेके रंगके चार कलशे पानी और अनेक ओषधियोंसे भरे हुए होने चाहिए। और चार ही सिंहासन होना चाहिए। सिंहासन सोना, रूपा, ताम्बा, काष्ठ और पाषाण,

---

३ वासरवारस जावदु दीणजणाणं च दिज्जए दाणं।
गायइ मंगलगीयं जुवइजणो भत्तिराएण ॥

४ जेण वयणेण संघो समच्छरो होइ तं पुणो वयणं।
बारसदिवसं जावदु वज्जियदव्वं अपमत्तेण ॥

५ वारस इंदा रम्मा तावदिया चेव तेसिमवलाओ।
ण्हाणादिसुद्धदेहा रत्तंभरमउडकतसोहा ॥
पुंडिक्खुदंडहत्था इंदाइंदायणीउ सिरकलसा।
आयरियस्स पुरत्था पढंति णाचंति गायंति ॥

६ कलसाइं चारि रूप्पय-हेमय-वण्णाइं तोयभरियाइं
दिव्वोसहिजुत्ताइं पयण्हवणे होंति इत्थ जोगाइं ॥

७ सीहासणं पसत्थं भम्मारसुरूप्पकठपाहणयं।
आयरियठवणजोगं विसेसदो भूसियं सुद्धं ॥

इनमेंसे चाहे किसी चीज़के बने हुए हों सब आचार्य-प्रतिष्ठाके योग्य हैं; बल्कि यदि वे खूब अच्छी तरहसे सजे हुए और जड़ाऊ भी हों तो भी शुद्ध और ग्राह्य हैं । ऐक सिंहासनके नीचे आठ पँखड़ीका कमल भी चावलोंसे बनाना चाहिए । ईसके बाद वह भावी आचार्य, यंत्रकी पूजा-प्रदक्षिणा करके; सिंहासन पर कलश डालकर और अपने गुरुसे पूछकर उस सिंहासन पर बैठे । बैठ जाने पर पूर्वाचार्योंके नाम लेकर स्तुति करे । इसके बाद एक इन्द्र उस आचार्यके सन्मुख बाँचनेके लिए सिद्धान्तादि शास्त्र रक्खे और फिरं संपूर्ण संघ उसे वंदना करके इस बातकी घोषणा करे कि ' **यह गुरु जिनेंद्रके समान हमारा स्वामी है । धर्मके लिए यह जो कुछ करायगा** (चाहे वह कैसा ही अनुचित कार्य क्यों न हो ?) **उसको जो कोई मुनि-आर्यिका या श्रावक नहीं मानेगा वह संघसे बाहिर समझा जायगा ।** ईस घोषणाके बाद मोतियोंकी माला तथा उत्तम वस्त्रादिकसे शास्त्रकीऔर गुरुके चरणोंकी पूजा करनी चाहिए । दूसरे दिन संघके सुखके लिए शांतिविधानपूर्वक' (वही विधान जिसका

---

८ तस्सतले वरपउमं अट्ठदलं सालितंदुलोकिण्णं ।
मज्झे मायापत्ते तलपिंडं चारु सव्वत्थ ॥

९ पच्छा पुज्जिवि जंतं तिय पाहिण देहि सिंहपीठस्स ।
कुंभिय पायाणो स गणं परिपुच्छिय विउसउतं पीठे ॥

१० तो वंदिऊण संघो विच्छाकिरयाए चारुभावेण ।
आघोसदि एस गुरू जिणुव्व अम्हाण सामीय ॥
जं कारदि एस गुरू धम्मत्थं तं जो ण मण्णेदि ।
सो सवणो, अज्जा वा सावय वा संघवाहिरओ ॥
११ एवं संघोसित्ता मुत्तामालादिदिव्ववत्थेहिं ।
पोत्थयपूयं किच्चा तदोपरं पायपूया य ॥
१२ तत्तो विंदिए दिवसे महामहं संतिवायणाजुत्तं ।
भूयवलिं गहसंति करिज्जए संघसोखत्थं ॥

पहले उल्लेख किया है) 'महामह नामका बड़ा पूजन करना चाहिए।[१३] इसके बाद बाहरसे आये हुए दूसरे आचार्योंको अपने अपने गणसहित इस नये आचार्यको (मंडलाचार्य या आचार्य चक्रवर्तीको !) वन्दना करके स्वदेशको चले जाना चाहिए। संघके किसी भी व्यक्तिको इस नव प्रतिष्ठित आचार्यकी कभी निन्दा नहीं करनी चाहिए और न उससे नाराज ही होना चाहिए (चाहे वह कैसा ही निन्दनीय और नाराजीका काम क्यों न करे !)।[१४]" *

पाठक, देखा, कैसा विचित्र विधान है ! स्वार्थ-साधनाका कैसा प्रबल अनुष्ठान है ! जैनधर्मकी शिक्षासे इसका कहाँ तक सम्बंध है ! जैनमहामुनियोंकी—आरंभ और परिग्रहके त्यागी महाव्रतियोंकी—पैसा तक पास न रखनेवाले तपस्वियोंकी—कैसी मिट्टी पलीद की गई है ! ! क्या जैनियोंके आचारांग-सूत्रोंमें निर्ग्रंथ साधुओंके लिए ऐसे कृत्योंकी

---

१३ सगसगगणेण जुत्ता, आयरिया जह कमेण वंदित्ता।
लहुवा जंति सदेसं परिकलिय सूरिसूरेण ॥

१४ सो पठदि सव्वसत्थं दिक्खा विज्जाइ धम्म वहत्थं ।
णहु णिंददि णहु रूसदि संघो सव्वो विसव्वत्थ ॥

* जिस अध्यायका यह सब कथन है उसके आदि और अन्तमें दोनों ही जगह भद्रबाहुका नामभी लगा हुआ है। शुरूके पद्यमें यह सूचित किया है कि 'गुप्तिगुप्त' नामके मुनिराजके प्रश्न पर भद्रबाहु स्वामीजीने इस अध्यायका प्रणयन किया है । और अन्तिम पद्यमें लिखा है कि 'इस प्रकार परमार्थके प्ररूपणमें महा तेजस्वी भद्रबाहु जिनके सहायक होते हैं वे धन्य हैं और पूरे पुण्याधिकारी हैं । यथाः—

" सिरिभद्दबाहुसामिं णमसित्ता गुत्तिगुत्तमुणिणाहिं ।
परिपुच्छियं पसत्थं अट्ठं पट्ठावणं जइणो ॥ ३ ॥
" इय भद्दबाहुसूरी परमत्थपरूवणे महातेओ ।
जेसिं होइं समत्थो ते धण्णा पुण्णपुण्णा य ॥ ८० ॥ "

कोई विधि हो सकती है? कभी नहीं । जिन लोगोंको जैनधर्मके स्वरूपका कुछ भी परिचय है और जिन्होंने जैनधर्मके मूलाचार आदि यत्याचार विषयक ग्रंथोंका कुछ अध्ययन किया है वे ऊपरके इस विधि-विधानको देखकर एकदम कह उठेंगे कि 'यह कदापि जैनधर्मके निर्ग्रंथ आचार्योंकी प्रतिष्ठाविधि नहीं हो सकती'–निर्ग्रंथ मुनियोंका इस विधानसे कोई सम्बंध नहीं हो सकता। वास्तवमें यह सब उन महात्माओंकी लीला है जिन्हें हम आज कल आधुनिक भट्टारक, शिथिलाचारी साधु या श्रमणाभास आदि नामोंसे पुकारते हैं। ऐसे लोगोंने समाजमें अपना सिक्का चलानेके लिए, अपनेको तीर्थंकरके तुल्य पूज्य मनानेके लिए और अपनी स्वार्थसाधनाके लिए जैनधर्मकी कीर्तिको बहुत कुछ कलंकित और मलिन किया है; उसके वास्तविक स्वरूपको छिपाकर उस पर मनमाने तरह तरहके रंगोंके खोल चढ़ाये हैं; वही सब खोल बाह्य दृष्टिसे देखनेवाले साधारण जगत्को दिखलाई देते हैं और उन्हींको साधारण जनता जैनधर्मका वास्तविक रूप समझकर धोखा खा रही है। इसी लिए आज जैनसमाजमें भी घोर अंधकार फैला हुआ है, जिसके दूर करनेके लिए सातिशय प्रयत्नकी जरूरत है।

दिगम्बर मुनियों पर कोप।

(२०) तीसरे खंडके इसी सातवें अध्यायमें दो पद्य इस प्रकारसे दिये हैं:—

> " भरहे दूसमसमये संघकमं मेल्लिऊण जो मूढो।
> परिवट्ट दिगविरओ सो सवणो संघवाहिरओ ॥ ५॥*

---

* इस पद्यकी संस्कृत टीका इस प्रकार दी है:—'भरते दुःषमसमये पंचमकाले संघक्रमं मेलयित्वा यो मूढः परिवर्तते परिभ्रमति चतुर्दिक्षु विरतः विरक्तः सन् दिगम्बरः सन् स्वेच्छया भ्रमति स श्रमणः संघबाह्यः।"

" पासत्थाणं सेवी पासत्थो पंचचेलपरिहीणो ।
विवरीयहपवादी अवंदणिज्जो जई होई ॥ ५४ ॥

पहले पद्यमें लिखा है कि ' भरतक्षेत्रका जो कोई मुनि इस दुःषम पंचम कालमें संघके क्रमको मिलाकर दिगम्बर हुआ भ्रमण करता है– अर्थात् यह समझकर कि चतुर्थ कालमें पूर्वजोंकी ऐसी ही दैगम्बरी वृत्ति रही है तदनुसार इस पंचम कालमें प्रवर्तता है–वह मूढ़ है और उसे संघसे बाहर तथा खारिज समझना चाहिए । और दूसरे पद्यमें यह बतलाया है कि वह यति भी अवंदनीय है जो पंच प्रकारके वस्त्रोंसे रहित है । अर्थात् उस दिगम्बर मुनिको भी अपूज्य ठहराया है जो खाल, छाल, रेशम, ऊन और कपास, इन पाँचों प्रकारके वस्त्रोंसे रहित होता है । इस तरह पर ग्रंथकर्ताने दिगम्बर मुनियों पर अपना कोप प्रगट किया है । मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताको आधुनिक भट्टारकों तथा दूसरे श्रमणाभासोंको तीर्थंकरकी मूर्ति बनाकर या जिनेंद्रके तुल्य मनाकर ही संतोष नहीं हुआ बल्कि उसे दिगम्बर मुनियोंका आस्तित्व भी असह्य तथा कष्ट कर मालूम हुआ है और इस लिए उसने दिगम्बर मुनियोंको मूढ़,अपूज्य और संघबाह्य करार देकर उनके प्रति अपनी घृणाका प्रकाश किया है । इतने पर भी दिगम्बर जैनियोंकी अंधश्रद्धा और समझकी बलिहारी है कि वे ऐसे ग्रंथका भी प्रचार करनेके लिए उद्यत होगये ! सच है, साम्प्रदायिक मोहकी भी बड़ी ही विचित्र लीला है ! !

उपसंहार।

ग्रंथकी ऐसी हालत होते हुए, जिसमें अन्य बातोंको छोड़कर दिगम्बर मुनि भी अपूज्य और संघबाह्य ठहराये गये, यह कहनेमें कोई संकोच नहीं होता कि, यह ग्रंथ किसी दिगम्बर साधुका कृत्य नहीं है। परन्तु श्वेताम्बर साधुओंका भी यह कृत्य मालूम नहीं होता; क्योंकि इसमें बहुतसी बातें हिन्दूधर्मकी ऐसी पाई जाती हैं जिनका स्वेताम्बर धर्मसे भी कोई सम्बंध नहीं है। साथ ही, दूसरे खंडके दूसरे अध्यायमें '**दिग्वासा श्रमणोत्तमः**' इस पदके द्वारा भद्रबाहु श्रुतकेवलीको उत्कृष्ट दिगम्बर साधु बतलाया है। इस लिए कहना पड़ता है कि यह ग्रंथ सिर्फ ऐसे महात्माओंकी करतूत है जो दिगम्बर—श्वेताम्बर कुछ भी न होकर स्वार्थसाधना और ठगविद्याको ही अपना प्रधान धर्म समझते थे। ऐसे लोग दिगम्बर और श्वेताम्बर दोंनो ही सम्प्रदायोंमें हुए हैं। श्वेताम्बरोंके यहाँ भी इस प्रकारके और बहुतसे जाली ग्रंथ पाये जाते हैं, जिन सबकी जाँच, परीक्षा और समालोचना होनेकी जरूरत है। श्वेताम्बर विद्वानोंको इसके लिए खास परिश्रम करना चाहिए; और जैनधर्म पर चढ़े हुएं शैवाल (काई) को दूर करके महावीर भगवानका शुद्ध और वास्तविक शासन जगत्के सामने रखना चाहिए। ऐसा किये जाने पर विचार-स्वातंत्र्य फैलेगा। और उससे न सिर्फ जैनियोंकी बल्कि दूसरे लोगोंकी भी साम्प्रदायिक मोह-मुग्धता और अंधी श्रद्धा दूर होकर उनमें सदसद्विवेकवती बुद्धिका विकाश होगा। ऐसे ही सदुद्देश्योंसे प्रेरित होकर यह परीक्षा की गई है। आशा है कि इन परीक्षा-लेखोंसे जैन-अजैन विद्वान् तथा अन्य साधारण जन सभी लाभ उठावेंगे। अन्तमें

जैन विद्वानोंसे मेरा निवेदन है कि, यदि सत्यके अनुरोधसे इन लेखोंमें कोई कटुक शब्द लिखा गया हो अथवा अपने पूर्व संस्कारोंके कारण उन्हें वह कटुक मालूम होता हो तो वे कृपया उसे ' अप्रिय पथ्य ' समझ कर या ' सत्यं मनोहारि च दुर्लभं वचः ' इस नीतिका अनुसरण करके क्षमा करें। इत्यलम्।